श्रीस्याद्वादानवद्य-विद्याविशारद-विद्वन्मणि-कवि-राजमल्लविरचित-

अध्यात्मकमलमार्तण्ड

[सानुवाद]

प्रथम परिच्छेद

—*:o:*—

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

प्रणम्य भावं विशदं चिदात्मकं समस्त-तत्त्वार्थ-विदं स्वभावतः ।
प्रमाण-सिद्धं नय-युक्ति-संयुतं विमुक्त-दोषावरणं समन्ततः ॥१॥
अनन्तधर्मं समयं ह्यतीन्द्रियं कुवादिवादाप्रहतस्वलक्षणम् ।
ब्रुवेऽपवर्गप्रणिधेतुमद्भुतं* पदार्थतत्त्वं भवतापशान्तये ॥२॥

(युग्मम्)

अर्थ—जो स्वभावसे ही सर्वपदार्थोंका ज्ञायक है, प्रमाणसे सिद्ध है, नय और युक्तिसे निर्णीत है, सर्व प्रकारके दोषों—रागद्वेष-मोहादिकों—तथा ज्ञानावरणादि आवरणोंसे मुक्त है, अत्यन्त निर्मल है और चैतन्यस्वरूप है उस भावको—शुद्ध आत्मस्वभावरूप

* 'ब्रुवेऽपवर्गस्य च हेतुमद्भुतं' इत्यपि पाठः

वीतराग परमात्माको—नमस्कार करके मैं (राजमल्ल) मोक्ष-प्राप्ति तथा भव-तापकी शान्तिके लिये—संसारमें होनेवाले मोहादिजन्य परिणामोंकी समाप्तिके लिये—अनन्तधर्मवाले उस समयका—आत्मद्रव्यका—वर्णन करता हूँ जो अतीन्द्रिय है—चक्षुरादि इन्द्रियों-से गम्य नहीं है—, जिसका स्वरूप कुवादियोंके प्रवादोंसे अखण्डित है—मिथ्या-मतियोंकी मिथ्या-युक्तियोंसे खण्डनीय नहीं है—और जो अद्भुत पदार्थतत्त्व है—अनेकप्रकारकी विचित्रताओंको लिये हुए है।

भावार्थ—चिदात्मक शुद्ध आत्मस्वभावरूप परमात्माको नमस्कार करके मैं सांसारिक संतापको शान्त करने और शाश्वत निराकुलतात्मक मोक्षको प्राप्त करनेके लिये अनन्त धर्मात्मक अतीन्द्रिय और अभेदस्वरूप जीव-तत्त्वका मुख्यतः कथन करता हूँ। साथ ही, गौणरूपसे अजीवादि शेष पदार्थों तथा तत्त्वोंका भी वर्णन करता हूँ।

नमोऽस्तु तुभ्यं जगदम्ब भारति
प्रसादपात्रं कुरु मां हि किङ्करम् ।
तव प्रसादादिह तत्त्वनिर्णयं
यथास्वबोधं विदधे स्वसंविदे ॥३॥

अर्थ—हे जगन्माता सरस्वति ! मैं तुम्हें सादर प्रणाम करता हूँ, मुझ सेवकको अपनी प्रसन्नताका पात्र बनाओ—मुझपर प्रसन्न होओ, मैं तुम्हारी प्रसन्नतासे ही इस ग्रन्थमें जीवादि-तत्त्वोंका निर्णय अपनी बुद्धिके अनुसार आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये करता हूँ।

भावार्थ—मैं इस ग्रन्थकी रचना लोकमें ख्याति, लाभ तथा पूजादिकी प्राप्तिकी दृष्टिसे नहीं कर रहा हूँ। किन्तु इसमें साक्षात् तो

आत्मज्ञानकी प्राप्ति और परम्परासे दूसरोंको बोध कराना ही मेरा एक विशुद्ध लक्ष्य है। अतः हे लोकमाता जिनवाणी! तुम मुझपर प्रसन्न होओ, जिससे मैं इस ग्रन्थके निर्माण-कार्यको पूरा करनेमें समर्थ होऊँ।

ग्रन्थके निर्माणमें ग्रन्थकारका प्रयोजन—

मोहः सन्तानवर्ती भव-वन-जलदो द्रव्यकर्मौघहेतु—
स्तत्त्वज्ञानप्रमूर्तिर्वमनमिव खलु श्रद्धानं* न तत्त्वे।
मोह-क्षोभप्रमुक्ता[द्] दृगवगम-युतात्मच्चरित्राच्च्युतिश्च
गच्छत्वध्यात्मकञ्जद्युमणिपरपरिख्यापनान्मे चितोऽस्तम्॥४॥

अर्थ—जो सन्ततिसे चला आरहा है—बीज-वृक्षादिकी तरह अनादिकालसे प्रवर्तमान है, भवरूपी वनको सिंचन करनेवाला जलद है—उसे बढ़ानेके लिये मेघ-स्वरूप है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म-समूहका कारण है, तत्त्वज्ञानका विघातक मूर्तरूप है—हिताहितविवेकका साक्षात् विनाश करनेवाला है—और वमनके समान तत्त्वमें श्रद्धाको उत्पन्न नहीं होने देता। ऐसा वह मोह, और मोह-क्षोभसे विहीन तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसे युक्त जो सम्यक्चारित्र, उससे जो च्युति होरही है वह, इस तरह ये दोनों (मोह और रत्नत्रय-च्युति) ही 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' के विशद व्याख्यानसे मेरे चित्—आत्मासे अस्तको प्राप्त होवें—दूर होवें।

---

* श्रद्धानं न तत्त्वे' इत्यपि पाठः ‡'मच्चारित्राच्युता यम' इत्यपि।

पर-परिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा—
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते—
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥ ३॥—समयसारकलशा

भावार्थ—अनादिकालीन मोह-शत्रुसे संसारके सभी प्राणी भयभीत हैं। मोहसे ही संसार बढ़ता है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं और उनसे पुनः राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया और लोभादि विभावपरिणामोंकी सृष्टि होती है। मोहके रहते हुए जीवको आत्मतत्त्वकी प्रतीति नहीं हो पाती—वह भ्रमवश अपने चिदानन्दस्वरूपसे भिन्न स्त्री-मित्र और धन-सम्पदादि परपदार्थोंमें आत्म-बुद्धि करता रहता है—अपनेसे सर्वथा भिन्न होते हुए भी इन्हें अभिन्न ही समझता है। और इन्हींकी प्राप्ति एवं संरक्षणमें अपनी अमूल्य मानव-पर्यायको यों ही गँवा देता है—आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करपाता। यह सब मोहका विचित्र विलास है। अतः ग्रन्थकार कविवर राजमल्लजी अपनी यह इच्छा व्यक्त करते हैं कि मेरा यह मोह और मोह-क्षोभसे रहित तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसे युक्त ऐसे सम्यकचारित्रसे जो च्युति हो रही है वह भी इस अध्यात्मकमलमार्तण्डके प्रकाशन एवं परिशीलनसे मेरे आत्मासे विनाशको प्राप्त होवे—मुझे शुद्धरत्नत्रयकी प्राप्ति होवे। आचार्य अमृतचन्द्रने भी समयसारकी टीका करते हुए उसके कलशाके तृतीय पद्यमें समयसारकी व्याख्यासे ख्याति, लाभ और पूजादिकी कोई अपेक्षा न रखते हुए केवल परमविशुद्धिकी—वीतरागताकी—कामना की है: क्योंकि आत्म-परिणति अनादिकर्मबंधसे और मोहकर्मके विपाकसे निरंतर कलुषित रहती है—राग-द्वेषादि-विभाव-परिणतिसे मलिन रहती है। इसी तरह उक्त कलशाका हिन्दी पद्यरूप अनुवाद करनेवाले पं० बनारसीदासजी भी एक पद्यमें परम-शुद्धता-प्राप्तिकी आकांक्षा व्यक्त करते हैं। वह पद्य इस प्रकार है:—

हूँ निश्चय तिहूँकाल शुद्ध चेतनमय-मूरति।
पर-परिणति-संयोग भई जड़ता विस्फूरति॥

मोहकर्म परहेतु पाय, चेतन पर-रच्चय।
ज्यों धतूर-रसपान करत, नर बहुविध नच्चय॥
अब समयसार वर्णन करत परमशुद्धता होहु मुझ।
अनयास बनारसिदास कहि मिटो सहज भ्रमकी अरुझ॥४॥

मोक्षका स्वरूप—

मोक्षः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः कर्मपर्यायहानि-
र्मूलात्तत्कालचित्ताद्विमलतरगुणोद्भूतिरस्या यथावत्।
स्याच्छुद्धात्मोपलब्धेः परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः
शुक्लध्यानादिभावापरकरणतनोः संवरान्निर्जरायाः॥५॥

अर्थ—अपने आत्मप्रदेशोंके साथ (एक क्षेत्रावगाहरूपसे) स्थित नानाविध ज्ञानावरणादि-कर्मोंका कर्म-पर्यायरूपसे अत्यन्त क्षय होजाना—उनका आत्मासे पृथक् होजाना द्रव्य-मोक्ष है, और इस द्रव्य-मोक्षकालीन आत्मासे जो यथायोग्य विशुद्ध गुणोंका आविर्भाव होता है वह भाव-मोक्ष है, जो कि शुद्धात्माकी उपलब्धिस्वरूप है। इस शुद्धात्माकी उपलब्धि होनेपर ही परम-समतारसरूप अमृतका पान होकर तृप्ति (आत्मसंतुष्टि) होती है। और यह शुद्धात्माकी उपलब्धि शुक्लध्यानादिरूप संवर तथा निर्जरा-से आविर्भूत होती है।

भावार्थ—आगममें मोक्षके द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष ऐसे दो भेदोंका वर्णन करके मोक्षके स्वरूपका कथन किया गया है। उन्हीं दोनों मोक्षोंका स्वरूप यहाँ बतलाया गया है। दूध-पानीकी तरह आत्माके साथ ज्ञानावरणादि आठों कर्म मिले हुए हैं, उनकी

कर्मपर्यायरूपसे आत्यन्तिक निवृत्ति होना तो द्रव्य-मोक्ष है और आत्माके अनन्तज्ञानादि विमल-गुणोंका आविर्भाव होकर स्वात्मोपलब्धि होना भाव-मोक्ष है। इसीको यों कह सकते हैं कि—सामान्यतया स्वात्मोपलब्धिका नाम मोक्ष है, अथवा आत्माकी उस अवस्थाविशेषका नाम मोक्ष है जिसमें सम्पूर्ण कर्ममलकलंकका अभाव हो जाता है और आत्माके समस्त अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादिगुण और अव्याबाधसुखगुण प्रकट होजाते हैं†। यह शुद्धात्माकी उपलब्धिरूप मोक्ष कर्मोंके सर्वथा क्षयसे होता है। और कर्मोंके क्षयके कारण संवर और निर्जरा हैं‡। ये संवर और निर्जरा भी गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, तप तथा शुक्लध्यानादिके द्वारा होते हैं—संवरसे तो नूतन कर्मोंका आगमन रुकता है और निर्जरासे संचित कर्मोंका सर्वथा क्षय होता है। इस तरह समस्त कर्मोंके क्षीण होजानेपर आत्मामें अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञानादि गुणसमूहकी उद्भूति होती है। और उस समय आत्मा समस्त संकल्प-विकल्परूप मोहजालसे सर्वथा विमुक्त होकर अपने चिदानन्दमय विज्ञानघन स्वभावमें स्थित हो जाता है। यही आत्माकी सबसे परमोच्च अवस्था है। और इस परमोच्च अवस्थाको प्राप्त करना ही प्रत्येक मुमुक्षु प्राणीका एकमात्र लक्ष्य है। ग्रन्थकारने यहाँ इसी परमशान्त मोक्षावस्थाका स्वरूप बतलाया है।

---

† "निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।"

—सर्वार्थसिद्धि १-१ (भूमिका)

‡ 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।'

—तत्त्वार्थसूत्र १०-२

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गका कथन—

सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्तं त्रितयमपि युतं मोक्षमार्गो† विभक्त्वा-
त्सर्वं स्वात्मानुभूतिर्भवति च तदिदं निश्चयात्तत्त्वदृष्टेः ‡।
एतद्द्वैतं च ज्ञात्वा निरुपधि-समये स्वात्मतत्त्वे निलीय
यो निर्भेदोऽस्ति भूयस्स नियतमचिरान्मोक्षमाप्नोति चात्मा॥६

अर्थ—व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंका ऐक्य मोक्षमार्ग है—कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है—और वास्तविक अर्थको विषय करनेवाले निश्चय-नयसे सम्यग्दर्शनादित्रयस्वरूप जो स्वानुभूति है वह मोक्षमार्ग है। इस प्रकार व्यवहार और निश्चयरूप मोक्षमार्गकी द्विविधता-को जानकर जो आत्मा उपधिरहित समयमें—विभावपरिणतिके अभावकालमें—स्वकीय आत्मतत्त्वमें लीन होकर अभेदभावरूप परिणत होता है—वह नियमसे शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करता है।

---

† 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' तत्त्वार्थसूत्र, १-१

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं राग-दोस-परिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं॥१०६॥
धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥१६०॥

—पंचास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

‡ णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति॥१६१॥

—पंचास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमाहित आत्मैव जीव-
स्वभावनियतचरित्रत्वान्निश्चयेन मोक्षमार्गः।'

—पंचास्तिकायटीकायां, अमृतचन्द्राचार्यः

भावार्थ—मोक्षमार्ग दो प्रकारका है—व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीनोंकी एकता व्यवहार मोक्षमार्ग है। और इन तीनों स्वरूप स्वात्मानुभूति निश्चय मोक्षमार्ग है। जो भव्य जीव मोक्षमार्ग-कथनकी इस द्विविधताको जानकर आत्मस्वरूपमें लीन होते हैं और आत्माको पुद्गलादि परद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न सच्चिदानन्दमय एक ज्ञायकस्वरूप ही अनुभव करते हैं, वे शीघ्र ही आत्मसिद्धिको प्राप्त होते हैं।

व्यवहारसम्यक्त्वका स्वरूप—

यच्छ्रद्धानं जिनोक्तेरथ नयभजनात्सप्रमाणादबाध्या-
त्प्रत्यक्षाच्चानुमानात् कृतगुणगुणिनिर्णीतियुक्तं गुणाढ्यम्।
तत्त्वार्थानां स्वभावाद् ध्रुवविगमसमुत्पादलक्ष्मप्रभाजां
तत्सम्यक्त्वं वदन्ति व्यवहरणनयाद् कर्मनाशोपशान्तेः ॥७॥

अर्थ—स्वभावसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यलक्षणको लिये हुए तत्त्वार्थोंका—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका अथवा पुण्य-पापसहित नव पदार्थोंका—जिनेन्द्रभगवान्के वचनों (आगम) से, प्रमाणसहित नैगमादि-नयोंके विचारसे, अबाधित (निर्दोष) प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे—और कर्मोंके (दर्शनमोहनीय तथा अनन्तानुबन्धी कषायों) के क्षय, उपशम तथा क्षयोपशमसे गुण-गुणीके निर्णयसे युक्त तथा निःशंकितादिगुणोंसे सहित जो श्रद्धान होता है उसे व्यवहार-नयसे सम्यक्त्व कहते हैं—अर्थात् वह व्यवहार सम्यक्त्व है।

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वोंका अथवा पुण्य-पापसहित नवपदार्थोंका विप-

रीताभिनिवेशरहित और प्रमाण-नयादिके विचारसहित जो श्रद्धान होता है उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं* । इन सात तत्त्वोंका उपदेश करनेवाले सच्चे देव, शास्त्र और गुरुका तीनमूढ़ता और अष्टमदसे रहित श्रद्धान करना भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है† । इसके तीन भेद हैं—उपशमसम्यक्त्व, २ क्षायिकसम्यक्त्व और ३ क्षायोपशमिकसम्यक्त्व ।

१. उपशमसम्यक्त्व—अनादि और सादि मिथ्यादृष्टि जीवके क्रमशः दर्शनमोहनीयकी एक वा तीन और अनन्तानुबंधीकी चार इन पाँच अथवा सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं । यह सम्यक्त्व क्षायिकके समान ही अत्यन्त निर्मल होता है । जैसे कीचड़ सहित पानीमें कतकफल डाल देनेसे उसकी कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है उसी प्रकार उक्त पाँच वा सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो आत्म-निर्मलता अथवा विमल-रुचि होती है वह उपशम सम्यक्त्व कहलाती है‡ ।

---

* जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
  श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ।
  —पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, श्रीअमृतचन्द्रसूरिः

† श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
  त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥
  —रत्नकरण्डश्रावकाचारे, स्वामिसमन्तभद्रः

‡ (क) सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकसम्यक्त्वं ।१। अनंतानुबंधिनः कषायाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः चारित्रमोहस्य ।
  'मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वानि त्रीणि दर्शनमोहस्य ।
  आसां सप्तानां प्रकृतिनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वमिति ।'
  —तत्त्वार्थरा० २-३

२. क्षायिकसम्यक्त्व— अनन्तानुबंधीकी चार और मिथ्यात्वकी तीन इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षयसे जो निर्मल तत्त्व-प्रतीति होती है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाती है† ।

३. क्षयोपशमिक सम्यक्त्व—अनंतानुबंधि-क्रोध-मान-माया-लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियोंमें किन्हींके उपशम और किन्हींके क्षयसे तथा सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं‡ ।

निश्चयसम्यग्दर्शनका कथन—

एषोऽहं भिन्नलक्ष्मो दृगवगमचरित्रादिसामान्यरूपो
ह्यन्यद्यत्किंचिदाभाति बहुगुणिगणवृत्तिलक्ष्म परं तत् ।
धर्मं चाधर्ममाकाशकमसुखगुणद्रव्यजीवान्तराणि
मत्तः सर्वं हि भिन्नं परपरिणतिरप्यात्मकर्मप्रजाता* ॥ ८ ॥
निश्चित्येतीह सम्यग्विगतसकलदृग्मोहभावः स जीवः
सम्यग्दृष्टिर्भवेन्निश्चयनयकथनात् सिद्धकल्पश्च किंचित् ।

(ख) 'अनंतानुबंधि-क्रोध-मान-माया-लोभानां सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वानां च सप्तानामुपशमादुपजातं तत्त्वश्रद्धानं औपशमिकं सम्यक्त्वं ।' —विजयोदया ३१

† 'तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयादुपजातवस्तु-याथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिकदर्शनम् ।' —विजयोदया ३१

‡ 'तासामेव कासांचिदुपशमात् अन्यासां च क्षयादुपजातं श्रद्धानं क्षयोपशमिकम् ।' —विजयोदया ३१

*एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ —नियमसार

यद्यात्मा स्वात्मतत्त्वे स्तिमितनिखिलभेदैकतानो बभाति
साक्षात्सद्दृष्टिरेवायमथ विगतरागश्च लोकैकपूज्यः ॥ ६ ॥

(युग्मम्)

अर्थ—मैं पुद्गलादि पर-द्रव्योंसे भिन्न लक्षण हूँ—सामान्यतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रादि-स्वरूप हूँ। मेरे चैतन्य-स्वरूपसे अन्य जो कुछ भी प्रतिभासित होता है वह सब अनेक गुण-गुणीमें व्याप्त लक्षण वाले पर-पदार्थ हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, दूसरे जीवद्रव्य और पुद्गल-द्रव्य भी मेरेसे भिन्न हैं। तथा आत्मा और कर्मके निमित्तसे होनेवाली राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया और लोभादिरूप परिणति भी मुझसे भिन्न है।

इस तरह निश्चयकर जिस आत्माका सम्पूर्ण दर्शनमोहरूप परिणाम भले प्रकार नष्ट होगया है वह निश्चयनयसे सम्यग्दृष्टि है। और यदि यह आत्मा समस्त संकल्प-विकल्परूप भेद-जालसे रहित होकर स्वात्म-तत्त्वमें स्थिर होता है तो वह सिद्ध परमात्माके ही प्रायः सदृश है। रागादि-विभाव-भावोंसे रहित यह निश्चयसम्यग्दृष्टि जीव ही वीतराग है और लोकमें अद्वितीय पूज्य है।

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, ज्ञाता द्रष्टा हूँ। संसारके ये सब पदार्थ मेरी आत्मासे भिन्न हैं, मैं उनका नहीं हूँ और न वे मेरे हैं; क्योंकि वे पर हैं। मेरे ज्ञायक स्वरूपके सिवाय जो भी अन्य पदार्थ देखने जानने या अनुभव करनेमें आते हैं वे मेरी आत्मासे सर्वथा जुदे जुदे हैं। परन्तु यह आत्मा विपरीताभिनिवेशके कारण उन्हें व्यर्थ ही अपने मान रहा है—स्त्री, पुत्र, मित्र और धन सम्पदादि पर-पदार्थोंमें आत्मबुद्धि कर रहा है। यह

विपरीत कल्पना ही इसके दुःखका मूल कारण है*। परन्तु जब आत्मामें दर्शनमोहका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है उस समय विवेक-ज्योति जागृत होकर आत्मामें सद्दृष्टिका उदय—आविर्भाव—हो जाता है और वह अपने स्वरूपमें ही लीन हो जाता है। सद्दृष्टिके उदित होते ही वे सब पुरातन संकल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं जो आत्म स्वरूपकी उपलब्धि-में बाधक थे, जिनके कारण स्वस्वरूपका अनुभव करना कठिन प्रतीत होता था और जिनके उदय-वश आत्मा अपने हित-कारी ज्ञान और वैराग्यको दुःखदाई अनुभव किया करता था। सद्दृष्टि होनेपर उन रागादि-विभाव-भावोंका विनाश हो जाता है और आत्मा अपने उसी विज्ञानघन चिदानन्दस्वरूपमें तन्मय हो जाता है। यह सब सद्दृष्टिका ही माहात्म्य है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञानका स्वरूप—

जीवाजीवादितत्त्वं जिनवरगदितं गौतमादिप्रयुक्तं
वक्रग्रीवादिसूक्तं सदमृतविधुसूर्यादिगीतं यथावत्।
तत्त्वज्ञानं तथैव स्वपरभिदमलं द्रव्यभावार्थदक्षं
संदेहादिप्रमुक्तं व्यवहरणनयात्संविदुक्तं दृगादि ॥१०॥

अर्थ—जो जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूप सप्त तत्त्व जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहे गए हैं और गौतमादि गणधरोंके द्वारा प्रयुक्त हुए हैं—द्वादशांगश्रुतरूपमें रचे गए हैं। वक्र-ग्रीवादि (कुन्दकुन्दादि) आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित हैं—और श्री-अमृतचन्द्रादि आचार्योंके द्वारा जिस प्रकार गाए गए हैं, उनका

* मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
— समाधितन्त्रे, श्रीपूज्यपादः

उसीप्रकार तत्त्वज्ञान तथा स्व-परका भेदविज्ञान कराने वाला है। द्रव्य-भावरूप पदार्थके दिखानेमें दक्ष है। संदेहादिसे मुक्त है—संशय, विपर्यय और अनध्यवसायादि मिथ्याज्ञानोंसे रहित है—और सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है वह व्यवहारनयसे सम्यग्ज्ञान है—अर्थात् उसे व्यवहार सम्यग्ज्ञान जानना चाहिये।

भावार्थ—नय और प्रमाणोंसे जीवादि पदार्थोंको यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है* अर्थात् जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे परिज्ञान करना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यह सम्यग्ज्ञान ही स्व और परका भेदविज्ञान करानेमें समर्थ है और वस्तुके याथातथ्यस्वरूपको संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय-रहित जानता है। सम्यग्ज्ञानका ही यह माहात्म्य है कि जिस पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मसमूहको अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षकी तपश्चर्यासे भी दूर नहीं करपाता उसी कर्म-समूहको ज्ञानी क्षणमात्रमें दूर कर देता है×। तात्पर्य यह कि भेदज्ञानी चैतन्यस्वभावके घातक कर्मोंका नाश क्षणमात्रमें उसी तरहसे कर देता है जिस तरह तृणोंके ढेरको अग्नि जला देती है†। स्व-परके भेदविज्ञान-द्वारा जिन्होंने शुद्धस्वरूपका अनुभव प्राप्त कर लिया है वे ही कर्मबन्धनसे छूट कर सिद्ध हुए हैं। और जो उससे शून्य हैं—

* 'नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।'

—सर्वार्थसिद्धि १—१

× जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥

† क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकम् ।
क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावकं यथा ॥ १२ ॥

—तत्त्वज्ञानतरंगिणी

परपदार्थोंकी परिणतिको ही आत्म-परिणति मान रहे हैं वे ही कर्मबंधनसे बंध रहे हैं‡। इसी भावको अध्यात्मकवि पं० बनारसीदासजी निम्न शब्दोंमें प्रकट करते हैं :—

भेदज्ञान संवर जिन पायो, सो चेतन शिवरूप कहायो।
भेदज्ञान जिनके घट नाहीं, ते जड़ जीव बंधे घट माहीं ।।८।।

इस तरह सम्यग्ज्ञान ही वस्तुके यथार्थस्वरूपका अवबोधक है और उसीसे हेयोपादेयरूप तत्त्वकी व्यवस्था होती है। अतः हमें तत्त्वश्रद्धानी बननेके साथ साथ सम्यग्ज्ञानप्राप्तिका भी अनुष्ठान करते रहना चाहिये।

निश्चयसम्यग्ज्ञानका स्वरूप—

स्वात्मन्येवोपयुक्तः परपरिणतिभिच्चिद्गुणग्रामदर्शी
चिच्चित्पर्यायभेदाधिगमपरिणतत्त्वाद्विकल्पावलीढः।
सः स्यात्सद्बोधचन्द्रः परमनयगतत्वाद्विरागी कथंचि-
च्चेदात्मन्येव मग्नश्च्युतसकलनयो वास्तवज्ञानपूर्णः ।।११।।

अर्थ—जो अपने स्वरूपमें ही उपयोग-विशिष्ट है—परपदार्थोंकी परिणतिसे भिन्न है, चैतन्यरूप गुणसमूहका द्रष्टा है—चेतनाके चिदात्मक पर्याय-भेदोंका परिज्ञापक होनेसे सविकल्प है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप पर्यायभेदोंका जाननेवाला है अतएव सविकल्प है, विरागी है—रागद्वेषादिसे रहित है और कथंचित् स्वात्मामें ही मग्न है—स्थिर है, नैगमादि

‡ भेदविज्ञानतः सिद्धः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।
—नाटकसमयसार ६—७

सम्पूर्ण नयोंके व्यापारसे रहित है, वास्तविकज्ञानसे परिपूर्ण है, वह निश्चयनयसे सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा है—अर्थात् निश्चय-सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ—जो अपने ज्ञायकस्वरूपमें स्थिर होता हुआ परपदार्थोंकी परिणतिसे भिन्न चैतन्यात्मक गुणसमूहका द्रष्टा है, चेतनाके पर्यायभेदोंका ज्ञायक है अतएव सविकल्प है, राग-द्वेषादिसे रहित है, और नय-प्रवृत्तिसे विहीन है उसे निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। विशेषार्थ—यहाँ चेतना-पर्यायोंका जो ग्रन्थकारने 'चिच्चित्पर्यायभेद' शब्दों द्वारा उल्लेख किया है उसका खुलासा इस प्रकार है—चेतना अथवा चेतनाके परिणाम तीन रूप हैं—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना*। ऐसे अनेक जीव हैं जिनके ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और वीर्यांतराय रूप कर्मोंका उदय है और कर्मोदयके कारण जिनकी आत्मशक्ति अविकसित है—कर्मोदयसे सर्वथा ढकी हुई है, अतएव इष्ट अनिष्टरूप कार्य करनेमें असमर्थ हैं—निरुद्यमी हैं और विशेषतया सुख-दुःखरूप कर्मफलके ही भोक्ता हैं, ऐसे एकेन्द्रिय जीव प्रधानतया कर्मफलचेतनाके धारक होते हैं†। और जिन जीवों-

* कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण॥ —पंचास्ति० ३८
परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधा भणिदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा॥
—प्रवचनसार ३१

† 'एके हि चेतयितारः प्रकृष्टतरमोहमलीमसेन प्रकृष्टतरज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन प्रकृष्टतरवीर्यांतरायाऽवसादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखरूपं कर्मफलमेव प्राधान्येन चेतयन्ते।
—पंचास्ति० तत्त्व० टी० ३८

जीवोंके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीयकर्मका विशेष उदय पाया जाता है और कर्मोदयसे जिनकी चेतना मलिन है—राग-द्वेषादिसे आच्छादित है—वीर्यांतरायकर्मके किंचित् क्षयोपशमसे इष्ट अनिष्टरूप कार्य करनेकी जिन्हें कुछ सामर्थ्य प्राप्त हो गई है और इसलिए जो सुख-दुःखरूप कर्मफलके भोक्ता हैं, ऐसे दोइन्द्रियादिक जीवोंके मुख्यतया कर्मचेतना होती है*।

जिन जीवोंका मोहरूपी कलंक धुल गया है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यांतराय कर्मके अशेष क्षयसे जिन्हें अनन्तज्ञानादिकगुणोंकी प्राप्ति होगई है, जो कर्म और उनके फल भोगनेमें विकल्प-रहित हैं, आत्मिक पराधीनतासे रहित स्वाभाविक अनाकुलतालक्षणरूप सुखका सदा आस्वादन करते हैं। ऐसे जीव केवल ज्ञानचेतनाका ही अनुभव करते हैं †।

परन्तु जिन जीवोंके सिर्फ दर्शनमोहका ही उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता है, जो तत्त्वार्थके श्रद्धानी हैं अथवा दर्शनमोहके अभावसे जिनकी दृष्टि सूक्ष्मार्थिनी हो गई है—सूक्ष्म पदार्थका अवलोकन करने लगी है—और जो स्वानुभवके रससे परिपूर्ण हैं,

---

* 'अन्ये तु प्रकृष्टतरमोहमलीमसेनापि प्रकृष्टज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन मनाग्वीर्यान्तरायक्षयोपशमासादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखानुरूपकर्मफलानुभवनसंवलितमपि कार्यमेव प्राधान्येन चेतयंते।'

—पंचास्ति० तत्त्व० टी० ३८

† 'अन्यतरे तु प्रक्षालितसकलमोहकलंकेन समुच्छिन्नकृत्स्नज्ञानावरणतयाऽत्यंतमुन्मुद्रितसमस्तानुभावेन चेतकस्वभावेन समस्तवीर्यांतरायक्षयासादितानंतवीर्या अपि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यंतकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्तं स्वाभाविकं सुखं ज्ञानमेव चेतयंत इति।'

—पंचास्ति० तत्त्व० टी० ३८

व्रतधारणकी इच्छा रखते हुए भी चारित्रमोहके उदयसे जो लेश-मात्र भी व्रतको धारण नहीं कर सकते, ऐसे उन सम्यग्दृष्टि जीवों-के भी ज्ञानचेतना होती है। और चारित्रमोहादिक कर्मोंका उदय-रहनेसे कर्मचेतना भी उनके पाई जाती है। इसीसे सम्यग्-दृष्टिके दोनों चेतनाओंका अस्तित्व माना जाता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अभेदकी आशङ्का और उसका समाधान—

को भित्संविद्दृशोर्वै ननु समसमये संभवत्सत्त्वतः स्या—
देकं लक्ष्म द्वयोर्वा तदखिलसमयानां च निर्णीतिरेव।
द्वाभ्यामेवाविशेषादिति मतिरिह चेन्नैव शक्तिद्वयात्स्या†—
त्संविन्मात्रे हि बोधो रुचिरतिविमला तत्र सा सद्दृगेव॥१२॥

शङ्का—सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें क्या भेद है? क्योंकि ये दोनों समकालमें एक ही साथ उत्पन्न होते हैं और दोनोंका एक ही लक्षण है। जिन पदार्थोंका एक ही लक्षण हो और जो एक ही समयमें पैदा होते हों वे पदार्थ एक माने जाते हैं, ऐसा अखिल सिद्धान्तों अथवा सम्प्रदायों द्वारा निर्णीत ही है। अतएव इन दोनों को अभिन्न ही मानना चाहिये?

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान और दर्शन ये जुदी जुदी दो शक्तियाँ हैं। संवित्ति-सामान्यके होनेपर ही तत्त्व-बोध होता है, तत्त्व-बोध होनेपर अत्यन्त निर्मल रुचिरूप श्रद्धा होती है और वह श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। अतः सम्यग्ज्ञान जहां तत्त्व-बोधरूप है वहां सम्यग्दर्शन तत्त्व-रुचि रूप है, इसलिये दोनों अभिन्न नहीं हैं—भिन्न भिन्न ही हैं।

† 'शक्तिद्वयात्' पाठः

भावार्थ—यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समकालमें ही होते हैं—जब दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे आत्मामें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसी समय ही जीवके पहलेसे विद्यमान मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान दोनों ही सम्यक्रूपसे परिणमन करते हैं अर्थात् वे अपनी मिथ्याज्ञानरूप पूर्व पर्यायका परित्याग कर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञानपर्यायसे युक्त होते हैं—तथापि दोनोंमें कार्य-कारण-भाव होने तथा भिन्न लक्षण होनेसे भिन्नता है। जैसे मेघपटलके विनाश होनेपर सूर्यके प्रताप और प्रकाश दोनोंकी एक साथही अभिव्यक्ति होती है* परन्तु वे दोनों स्वरूपतः भिन्न भिन्न ही हैं—एक नहीं हो सकते। ठीक उसी तरह सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी वे दोनों एक नहीं हो सकते; क्योंकि सम्यक्दर्शन तो कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है इतना ही नहीं; दोनोंके लक्षण भी भिन्न भिन्न हैं। सम्यग्दर्शनका लक्षण तो रुचि, प्रतीति अथवा निर्मल श्रद्धा है और सम्यग्ज्ञानका लक्षण तत्त्व-बोध है—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान है। अतः लक्षणोंकी भिन्नता भी दोनोंकी एकताकी बाधक है †। इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों भिन्न हैं।

---

* 'यदाऽस्य दर्शनमोहस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति, तदैव तस्य मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति। घनपटलविगमे सवितुः प्रताप-प्रकाशाभिव्यक्तिवत्।'
—सर्वार्थसिद्धिः १-१

† 'पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः॥ ३२॥

व्यवहार सम्यक्चारित्र और निश्चय सरागसम्यक्चारित्रका स्वरूप—

पंचाचारादिरूपं दृगवगमयुतं सच्चरित्रं च भाक्तं
द्रव्यानुष्ठानहेतुस्तदनुगतमहारागभावः कथंचित् ।
भेदज्ञानानुभावादुपशमितकषायप्रकर्षस्वभावो
भावो जीवस्य सः स्यात्परमनयगतः स्याच्चरित्रं सरागम्॥१३॥

अर्थ—जो पंच आचारादिस्वरूप है—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्य इन पांच आचार तथा आदिपदसे उत्तम-क्षमादि दश-धर्म और षडावश्यकादि क्रियास्वरूप है—तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त है वह व्यवहार सम्यक्चारित्र है। इस व्यवहार सम्यक्चारित्रमें द्रव्य-क्रियाओंके करनेमें कुछ अनुकूल स्थूल राग परिणाम हुआ करता है इसी लिये यह व्यवहार चारित्र कहा जाता है। भेदज्ञानके प्रभावसे जिसमें कषायोंका प्रकर्षस्व-भाव शान्त होजाता है वह जीवका भाव निश्चयनयसे सराग सम्यक्चारित्र है।

भावार्थ—पंच महाव्रतादिरूप तेरह प्रकारके चारित्रका अनु-ष्ठान करना व्यवहारचारित्र है और स्वस्वरूपमात्रमें प्रवृत्ति करना निश्चयचारित्र है। इस तरह व्यवहार और निश्चयके भेदसे चारित्र दो प्रकारका है, जिसका खुलासा इस प्रकार है :—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥ ३३ ॥
कारण-कार्यविधाने समकालं जायमानयोरपि हि।
दीप-प्रकाशयोरिव सम्यक्त्व-ज्ञानयोः सुघटम् ॥ ३४ ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, श्रीअमृतचन्द्रः।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित व्रत, गुप्ति, समिति आदि-का अनुष्ठान करना, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यरूप पंच आचारोंका पालना तथा उत्तमक्षमादि दशधा धर्मका आचरण करना और षडावश्यकादि क्रियाओंमें यथायोग्य प्रवर्तना, यह सब व्यवहार सम्यक्चारित्र है। अथवा अशुभक्रियाओंसे—विषय, कषाय, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप क्रियाओंसे—निवृत्ति तथा शुभोपयोगजनक क्रियाओंमें—दान, पूजन, स्वाध्याय-तत्त्वचिंतन, ध्यान, समाधि और इच्छानिरोधादि उत्तम क्रियाओंमें—प्रवृत्ति करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है*। इस चारित्रमें प्रायः स्थूल राग परिणति बनी रहती है इसलिये इसे व्यवहार चारित्र कहा जाता है, और जिसमें भेदविज्ञानके द्वारा कषायोंका प्रकर्षस्वभाव शान्त कर दिया जाता है ऐसा वह जीवका परिणामविशेष निश्चय-सरागसम्यक्चारित्र है।

निश्चयवीतरागचारित्र और उसके भेदोंका स्वरूप—

स्वात्मज्ञाने निलीनो गुण इव गुणिनि त्यक्त-सर्व-प्रपञ्चो
रागः कश्चिन्न बुद्धौ खलु कथमपि वाऽबुद्धिजः स्यात्तु तस्य।
सूक्ष्मत्वात्तं हि गौणं यतिवरवृषभाः स्याद्विधायेत्युशन्ति
तच्चारित्रं विरागं यदि खलु विगलेत्सोऽपि साक्षाद्विरागम्॥१४॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे मोक्ष-मोक्षमार्ग-लक्षणप्रतिपादकः प्रथमः परिच्छेदः॥

अर्थ—जो जीव गुणीमें गुणके समान स्वात्म-ज्ञानमें लीन है—आत्म-स्वरूपमें ही सदा निष्ठ रहता है—सब प्रपञ्चोंसे रहित

---

* असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणयादु जिण-भणियं॥—द्रव्यसंग्रह ४५

है वह निश्चयवीतरागचारित्री है। उसके निश्चयसे बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता, किसी प्रकार अबुद्धिजन्य राग हो भी तो सूक्ष्म ही होता है। अतः उसके इस चारित्रको गणधरादिदेवोंने गौण वीतरागचारित्र कहा है। और यदि वह सूक्ष्म-राग भी नहीं रहता तो उसे साक्षात् निश्चयवीतरागचारित्र कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि वीतरागचारित्रवाले मुनियोंके कोई भी बुद्धिजन्य राग नहीं होता—उनके स्वशरीरादि अथवा परपदार्थमें किंचित् भी बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता; किन्तु अबुद्धिजन्य राग कथंचित् पाया जा सकता है, पर वह सूक्ष्म है; ऐसे चारित्रको मुनिपुंगव गौणरूप वीतरागचारित्र कहते हैं। उस सूक्ष्म अबुद्धिजन्य रागके भी विनाश होनेपर वह चारित्र साक्षात् वीतरागचारित्र कहलाता है।

भावार्थ—जो चारित्र स्वात्म-प्रवृत्तिरूप है, कषायरूपी कलंकसे सर्वथा मुक्त है अथवा दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयजनित मोह-क्षोभसे सर्वथा रहित जीवके अत्यन्त निर्विकार परिणाम स्वरूप है और जिसे 'साम्य' कहा गया है* उसे ही वीतरागचारित्र, निश्चयचारित्र अथवा निश्चयधर्म भी कहते हैं। इस चारित्रके भी दो भेद हैं— १ गौणवीतरागचारित्र और २ साक्षात्वीतरागचारित्र।

जो स्वात्मामें ही सदा निष्ठ रहते हैं, बाह्य संकल्प-विकल्पोंसे सर्वथा रहित हैं, जिनके आत्मा अथवा पर-पदार्थमें किंचित् भी बुद्धिजन्य राग नहीं पाया जाता, किसी तरह अबुद्धिजन्य-राग

* 'मोह-क्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।'

प्रवचनसारे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

साम्यं तु दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोह-क्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।' —प्रवचनसार टी० ७

पाया भी जाय तो वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है—बाह्यमें दृष्टि-गोचर नहीं होता—ऐसे मुनियोंके उस चारित्रको गौणवीत-रागचारित्र कहते हैं। और जिन मुनीश्वरोंका वह अत्यन्त सूक्ष्म अबुद्धिजन्य राग भी विनष्ट हो जाता है उनके चारित्रको साक्षात्-वीतरागचारित्र कहते हैं, जो मुक्तिका साक्षात्कारण है।

इस प्रकार 'श्रीअध्यात्मकमलमार्तण्ड' नामक अध्यात्म-ग्रन्थमें मोक्ष और मोक्षमार्गका कथन करनेवाला प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।

द्वितीय परिच्छेद

तत्त्वोंका नाम-निर्देश—

जीवाजीवावास्रवबन्धौ किल संवरश्च निर्जरणं।
मोक्षस्तत्त्वं सम्यग्दर्शनसद्बोधविषयमखिलं स्यात् ॥१॥

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सब ही तत्त्व *सम्यग्दर्शन* और *सम्यग्ज्ञानके* विषय हैं—इनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन और इनका बोध सम्यग्ज्ञान है।

पुण्य और पापका आस्रव तथा बंधमें अन्तर्भाव—

आस्रवबन्धान्तर्गतपुण्यं पापं स्वभावतो न पृथक्।
तस्मान्नोद्दिष्टं खलु तत्त्वदृशा सूरिणा सम्यक् ॥२॥

अर्थ—पुण्य और पाप, आस्रव तथा बन्धके अन्तर्गत हैं—उन्हींमें समाविष्ट हैं—, स्वभावसे पृथक् नहीं हैं। इस कारण तत्त्वदर्शी आचार्य महोदयने इनका पृथक् कथन नहीं किया।

भावार्थ—कर्मके दो भेद हैं—पुण्यकर्म और पापकर्म। मन, वचन और कायकी श्रद्धापूर्वक पूजा, दान, शील संयम और तपश्चरणादिरूप शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेसे पुण्यकर्मका अर्जन होता है और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, लोभ, ईर्ष्या और असूयादिरूप मन, वचन तथा कायकी अशुभ-प्रवृत्तिसे पापकर्म होता है। पुण्य तथा पाप आस्रव और बन्ध दोनों ही रूप होते हैं, क्योंकि शुभ परिणामोंसे पुण्यास्रव और पुण्यबंध होता है और अशुभ परिणामोंसे पापास्रव तथा पापबंध होता है। इसीसे पुण्य और पापका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धमें किया गया है। यही कारण है कि तत्त्वदर्शी आचार्य महोदयने इनका सात तत्त्वोंसे भिन्न वर्णन नहीं किया।

विशेषार्थ—यहाँ इस शंकाका समाधान किया गया है कि पुण्य और पाप भी अलग तत्त्व हैं उन्हें जीवादि सात तत्त्वोंके साथ क्यों नहीं गिनाया? ग्रन्थकारने इसका उत्तर संक्षेपमें और वह भी बड़े स्पष्ट शब्दोंमें यह दिया है कि पुण्य और पाप वस्तुतः पृथक् तत्त्व नहीं हैं, उनका आस्रव और बन्ध तत्त्वमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। मालूम होता है पं० राजमल्लजीने आचार्य उमास्वातिके उस सूत्र*को लक्ष्यमें रखकर ही यह शंका और समाधान किया है जिसमें आचार्य महाराजने उल्लिखित जीवादि सात तत्त्वोंका ही कथन किया है। इस सूत्रकी टीका करनेवाले आचार्य पूज्यपादने भी इस शंका और समाधानको अपनी सर्वार्थसिद्धिमें स्थान दिया है†।

---

* देखो, तत्त्वार्थसूत्र० १-४।

† 'इह पुण्यपापग्रहणं च कर्तव्यं, नव पदार्था इत्यन्यैरप्युक्तत्वात्। न कर्तव्यम्, तयोरास्रवे बन्धे चान्तर्भावात्।'—सर्वार्थसि० १-४

तत्त्वोंका परिणाम और परिणामिभाव—

जीवमजीवं द्रव्यं तत्र तदन्ये भवन्ति मोक्षान्ताः ।
चित्पुद्गलपरिणामाः केचित्संयोगजाश्च विभजनजाः ॥३॥

अर्थ—उक्त सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव ये दो तत्त्व तो द्रव्य हैं—परिणामी हैं—और मोक्ष पर्यन्तके शेष पाँच तत्त्व जीव और अजीव (पुद्गल) इन दोनोंके परिणाम हैं, जिनमें कुछ परिणाम तो संयोगज हैं और कुछ विभागज।

भावार्थ—आस्रव और बन्ध ये दो तत्त्व जीव और पुद्गलके संयोगसे निष्पन्न होते हैं। इस कारण इन्हें संयोगज परिणाम कहते हैं। तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्त्व दोनोंके विभागसे उत्पन्न होते हैं। अतः ये विभागज परिणाम कहे जाते हैं। इस तरह उपर्युक्त सात तत्त्वोंमें आदिके दो तत्त्व परिणामी हैं और शेष तत्त्व उनके परिणाम हैं।

द्रव्योंका सामान्य-स्वरूप—

द्रव्याण्यनाद्यनिधनानि सदात्मकानि
स्वात्मस्थितानि सदकारणवन्ति नित्यम् ।
एकत्र संस्थितवपूंष्यपि भिन्नलक्ष्म-
लक्ष्याणि तानि कथयामि यथास्वशक्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—सब द्रव्य अनादि-निधन हैं—द्रव्यार्थिकनयसे आदि-अन्त-रहित हैं, सत्स्वरूप हैं—अस्तित्ववाले हैं; स्वात्मामें स्थित हैं—एवम्भूतनयकी अपेक्षासे अपने अपने प्रदेशोंमें स्थित हैं;

सत् और अकारणवान हैं—पर्यायें ही किसी कारणसे उत्पन्न और विनष्ट होती हैं इसलिये वे तो कारणवान हैं; परन्तु द्रव्यका न उत्पाद होता है और न विनाश—वह सदा विद्यमान रहता है, इसलिये सब द्रव्य द्रव्य-सामान्यकी अपेक्षासे कारण रहित हैं। अतएव नित्य हैं और एक ही स्थानमें—लोकाकाशमें—परस्पर मिले हुए स्थित होनेपर भी अपने चैतन्यादि भिन्न भिन्न लक्षणों द्वारा जाने जाते हैं। उन सब (द्रव्यों)का मैं अपनी शक्त्य-नुसार कथन करता हूँ।

भावार्थ—द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये सब ही द्रव्य अनादिनिधन हैं। क्योंकि 'सत्का विनाश नहीं होता और न असत्का उत्पाद ही होता है।' इस सिद्धान्तके अनुसार जो द्रव्य हैं उनका विनाश नहीं हो सकता और जो नहीं हैं उनका उत्पाद नहीं बन सकता; इसलिये द्रव्य अनादिनिधन हैं। उपलब्ध हो रहे हैं, इसलिये सत्स्वरूप हैं—त्रिकालाबाधित सत्तासे विशिष्ट हैं। कारण रहित हैं, अतएव नित्य भी हैं। एक ही लोकाकाशमें अपने अपने स्वरूपसे स्थित हैं। चूँकि लक्षण सब द्रव्योंका अलग अलग है अतः एक जगह सबके रहनेपर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता और इसलिये उनका स्वतन्त्र अस्तित्व जाना जाता है। जीव-द्रव्य चेतन है, अवशिष्ट पांचों ही द्रव्य अचेतन हैं। इनमें पुद्गल-द्रव्य तो मूर्तिक है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवान् है। बाकी सभी द्रव्य अमूर्तिक हैं—चेतनता, गतिनिमित्तता, स्थितिहेतुत्व, अवगाह-हेतुत्व ये इन द्रव्योंके क्रमशः विशेष-लक्षण हैं, जिनसे प्रत्येक द्रव्यकी भिन्नताका स्पष्ट बोध होता है। इन सबका आगे निरूपण किया जाता है।

द्रव्यका लक्षण—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं विगमोत्पादध्रुवत्वयच्चापि ।
सल्लक्षणमिति च स्याद्द्वाभ्यामेकेन वस्तु लक्ष्येद्वा*॥५॥

अर्थ—जो गुण और पर्यायवान् है वह द्रव्य है तथा वह द्रव्य सत्-लक्षणरूप है और सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको लिये हुए है। इन दोनों लक्षणोंसे अथवा दोनोंमेंसे किसी एक लक्षणसे भी वस्तु लक्षित होती है—जानी जाती है।

भावार्थ—जो गुण और पर्यायों वाला है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-स्वरूप है वह द्रव्य है। ये द्रव्यके दो लक्षण हैं, इन दोनोंसे अथवा किसी एकसे वह जाना जाता है।

गुणका लक्षण—

अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणावयवा ह्यनन्तांशः।
द्रव्याश्रया विनाश-प्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत्† ॥ ६ ॥

---

* 'दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुण-पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥'
—पंचास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

'अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥'
—प्रवचनसारे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

'सद्द्रव्यलक्षणम्' 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।'
'गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।' —तत्त्वार्थसूत्र ५-२९,३०,३८

† 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' —तत्त्वार्थसूत्र ५-४१
'जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदवि सिद्धो ।'प्रवचनसा० २-१७
'अन्वयिनो गुणाः' —सर्वार्थसि० ५-३८

अर्थ—जो अन्वयी हैं—द्रव्यके साथ सदा रहनेवाले हैं, नित्य हैं—अविनाशी हैं, निर्गुण हैं—अवयवरूप हैं और अनंत अविभाग-प्रतिच्छेद-स्वरूप हैं, द्रव्यके आश्रय हैं—जो द्रव्यमें ही पाये जाते हैं, और अपनी शक्तियोंसे सदा उत्पाद-व्यय-विशिष्ट हैं, वे गुण कहलाते हैं।

भावार्थ—जो सदैव द्रव्यके आश्रय रहते हैं और निर्गुण होते हैं वे गुण कहलाते हैं। गुण अन्वयी होते हैं, द्रव्यके साथ सदा रहते हैं और उससे अलग नहीं होते, कभी नाश भी नहीं होते, वे सदा अपनी शक्तियोंसे उत्पाद, व्यय करते हुए भी ध्रौव्यरूपसे रहते हैं, अथवा एक गुणका उस ही गुणकी अनन्त अवस्थाओंमें अन्वय पाया जाता है इस कारण गुणोंको अन्वयी कहते हैं। यद्यपि एक द्रव्यमें अनेक गुण हैं इसलिये नाना गुणकी अपेक्षा गुण व्यतिरेकी भी हैं। परन्तु एक गुण अपनी अनन्त अवस्थाओंकी अपेक्षासे अन्वयी ही हैं†। वे गुण दो प्रकारके हैं :—एक सामान्यगुण और दूसरे विशेषगुण इन दोनों ही प्रकारके गुणोंका स्वरूप ग्रन्थकार आगे बतलाते हैं।

सामान्यगुणका स्वरूप—

सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्तन्ते।
ते सामान्यगुणा इह यथा सदादि प्रमाणतः सिद्धम् ॥७॥

अर्थ—जो गुण समस्त द्रव्योंमें समानरूपसे रहते हैं वे यहाँ पर सामान्यगुण कहे गए हैं। जैसे प्रत्यक्षादि-प्रमाणसे सिद्ध अस्तित्वादि गुण।

---

† जैन-सिद्धान्तदर्पण पृ० ६७।

विशेषगुणका स्वरूप—

तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्ना इहेदमिति चिज्ज्ञाः ।
ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियमितो विशेषगुणाः ॥८॥

अर्थ—उस एक ही विवक्षितवस्तुमें 'इसमें यह है' इस रूपसे रहनेवाले और उस द्रव्यके प्रतिनियामक विशेषगुण कहलाते हैं, जैसे जीवके ज्ञानादिक गुण।

भावार्थ—जो गुण किसी एक ही वस्तुमें असाधारणरूपसे पाये जाते हैं वे विशेषगुण कहलाते हैं; जैसे जीवद्रव्यमें ज्ञानादिक गुण। ये विशेषगुण प्रतिनियत द्रव्यके व्यवस्थापक होते हैं।

पर्यायका स्वरूप और उसके भेद—

व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयश्चापि ।
ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेष-धर्मांशाः ॥९॥

अर्थ—जो व्यतिरेकी हैं—क्रमवर्ती हैं, अनित्य हैं—परिणमनशील हैं, और पर्यायकालमें ही द्रव्यस्वरूप हैं उन्हें पर्याय कहते हैं। वे पर्यायें दो प्रकारकी होती हैं—१ द्रव्यकी अवस्थाविशेष और २ धर्मांशरूप।

भावार्थ—द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं*। ये पर्यायें क्रम-वर्ती होती हैं—प्रथम एक पर्याय हुई, उसके नाश होनेपर दूसरी और दूसरीके विनाश होनेपर तीसरी पर्यायकी निष्पत्ति होती है। इस तरह पर्यायें क्रम क्रमसे होती रहती हैं अतएव उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। पर्यायें अनित्य होती हैं—वे सदा एक रूप नहीं रहतीं, उनमें उत्पाद-व्यय होता रहता है। द्रव्यकी अवस्था-

* 'दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो ।'—सर्वार्थसिद्धि ५-३८

विशेष द्रव्यज-पर्याय हैं और धर्मांश गुण-पर्याय हैं। ये दोनों ही तरहकी पर्यायें क्रमशः द्रव्यों और गुणोंमें हुआ करती हैं।

द्रव्यावस्थाविशेषरूप द्रव्यज पर्यायका स्वरूप—

एकानेकद्रव्याणामेकानेकदेशसंपिण्डः† ।
द्रव्यजपर्यायोऽन्यो देशावस्थान्तरे तु तस्मादि ॥१०॥

अर्थ—एक अनेकरूप द्रव्योंका एक अनेकरूप प्रदेशपिण्ड द्रव्यज पर्याय कहलाती है। और वह एक अनेक द्रव्यका देशांतर तथा अवस्थान्तररूप होना है। यह द्रव्यज पर्याय दो प्रकारकी है—(१) स्वाभाविक द्रव्यज पर्याय और (२) वैभाविक द्रव्यज पर्याय। इनका स्वरूप स्वयं ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

स्वाभाविक द्रव्यज पर्यायका स्वरूप—

यो द्रव्यान्तरसमितिं विनैव वस्तुप्रदेशसंपिण्डः ।
नैसर्गिकपर्यायो द्रव्यज इति शेषमेव गदितं स्यात् ॥११॥

अर्थ—द्रव्यान्तरके संयोगके बिना ही वस्तुका जो प्रदेश-पिण्ड है वह स्वाभाविक द्रव्यज पर्याय है। और जो शेष है—अन्य द्रव्यान्तरके सम्बन्धसे होनेवाला वस्तुके प्रदेशोंका पिण्ड है—उसे वैभाविक द्रव्यज पर्याय कहा गया है। जैसा कि आगेके पद्यमें स्पष्ट किया गया है।

वैभाविक द्रव्यज पर्यायका स्वरूप—

द्रव्यान्तरसंयोगादुत्पन्नो देशसंचयो द्रव्यजः ।
वैभाविकपर्यायो द्रव्यज इति जीव-पुद्गलयोः ॥१२॥

अर्थ—दूसरे द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न प्रदेशपिण्डको वैभाविक

† 'एकानेकद्रव्याण्येकानेप्रदेशसंपिण्डः ।'—मुद्रितप्रतौ पाठः

द्रव्यज पर्याय कहते हैं। यह वैभाविक द्रव्यज पर्याय जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है।

भावार्थ—जो पर्याय द्रव्यान्तरके निमित्तसे हो उसे विभाव द्रव्यज पर्याय कहते हैं—जैसे पुद्गलके निमित्तसे संसारी जीवका जो शरीराकारादिरूप परिणाम है वह जीवकी विभाव द्रव्यज पर्याय है। और उसी प्रकार जीवके निमित्तसे पुद्गलका शरीरादि-रूप परिणमन होना पुद्गलकी विभाव द्रव्यज पर्याय है। ये विभाव द्रव्यज पर्याय केवल पुद्गल और जीवमें ही होती हैं—अन्य धर्मादिद्रव्योंमें नहीं। क्योंकि उनमें विभावरूपसे परिणमन करानेवाली वैभाविक शक्ति या क्रियावती शक्ति नहीं है। अतः उनका स्वभावरूपसे ही परिणमन होता है और इसलिये उनमें स्वभाव पर्यायें ही कही गई हैं।

गुण-पर्यायोंका वर्णन—

एकैकस्य गुणस्य हि येऽनन्तांशाः प्रमाणतः सिद्धाः।
तेषां हानिर्वृद्धिर्वा पर्याया गुणात्मकाः स्युस्ते ॥१३॥

अर्थ—एक एक गुणके प्रमाणसे सिद्ध जो अनन्त अंश हैं—अविभाग-प्रतिच्छेदरूप अनन्त शक्त्यंश हैं—उनकी हानि-वृद्धिरूप जो पर्यायें होती हैं वे गुणात्मक पर्याय कहलाती हैं। अर्थात् उन्हें गुण-पर्याय कहा गया है।

भावार्थ—एक एक गुणके अविभागप्रतिच्छेदरूप अनन्त शक्त्यंश होते हैं उनकी अगुरुलघुगुणोंके द्वारा होने वाली षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो पर्यायें निष्पन्न होती हैं वे सब गुण-पर्याय कहलाती हैं। गुणांश-कल्पनाको गुण-पर्याय कहते हैं। गुण-पर्याय दो प्रकार की है—अर्थ-गुण-पर्याय और व्यञ्जन-गुण-पर्याय।

भाववती शक्तिके विकारको अर्थ-गुण-पर्याय कहते हैं और प्रदेशवत्वगुणरूप क्रियावती शक्तिके विकारको व्यञ्जन-गुण-पर्याय कहते हैं। अथवा स्वभाव-गुण-पर्याय और विभाव-गुण-पर्यायकी अपेक्षा भी गुण-पर्यायके दो भेद हैं।

स्वभाव-गुण-पर्यायका स्वरूप—

धर्मद्वारेण हि ये भावा धर्मांशात्मका [हि] द्रव्यस्य।
द्रव्यान्तरनिरपेक्षास्ते पर्यायाः स्वभावगुणतनवः ॥१४॥

अर्थ—अन्यद्रव्यकी अपेक्षासे रहित द्रव्यके जो धर्मसे धर्मांशरूप परिणाम होते हैं वे स्वभाव गुण-पर्याय कहलाते हैं।

भावार्थ—जो द्रव्यान्तरके बिना होता है उसे स्वभाव कहते हैं। जैसे कर्मरहित शुद्धजीवके जो ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि पाये जाते हैं वे जीवके स्वभाव-गुणपर्याय हैं। और परमाणुमें जो स्पर्श-रस-गन्ध और वर्ण होते हैं वे पुद्गलकी स्वभाव गुण-पर्याय हैं। धर्मद्रव्यमें जो गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्यमें स्थितिहेतुत्व, आकाशद्रव्यमें अवगाहहेतुत्व और कालद्रव्यमें वर्तनाहेतुत्व है वह उस उस द्रव्यकी स्वभाव-गुण-पर्याय है, इन्हें इन द्रव्योंके उपकाररूपसे भी उल्लेखित किया है। सम्पूर्ण द्रव्योंमें अगुरुलघुगुणका जो परिणाम होता है वह सब उस उस द्रव्यकी स्वभाव-गुण-पर्याय है।

विभाव-गुण-पर्यायका स्वरूप—

अन्यद्रव्यनिमित्ताद्ये परिणामा भवंति तस्यैव।
धर्मद्वारेण हि ते विभावगुणपर्या(र्य)या द्वयोरेव ॥१५॥

अर्थ—उसी विवक्षित द्रव्यके अन्य द्रव्यकी अपेक्षा लेकर

धर्मद्वारा जो परिणाम होते हैं वे परिणाम विभाव-गुणपर्याय कहे जाते हैं। और वे जीव और पुद्गलमें ही होते हैं।

भावार्थ—जो पर्याय द्रव्यान्तरके निमित्तसे अंशकल्पना करके होती है वह विभाव-गुणपर्याय कही गई है। यह विभाव-गुणपर्याय जीव और पुद्गलमें ही होती है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान ये जीवकी विभाव-गुणपर्यायें हैं। और पुद्गल स्कन्धोंमें जो घट, पट, स्तम्भ आदि गत रूपादि पर्यायें हैं वे सब पुद्गलकी विभाव-गुणपर्यायें हैं। इस तरह द्रव्यका जो पहिला लक्षण 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' किया था उसका व्याख्यान पूरा हुआ। अब आगेके पद्योंमें ग्रन्थकार दूसरे लक्षण 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' का व्याख्यान करते हैं।

एक ही समयमें द्रव्यमें उत्पादादित्रयात्मकत्वकी सिद्धि—

केश्चित्पर्ययविगमैर्व्येति द्रव्यं ह्युदेति समकाले।
अन्यैः पर्ययभवनैर्धर्मद्वारेण शाश्वतं द्रव्यम् ॥१६॥

अर्थ—एक ही समयमें द्रव्य किन्हीं पर्यायोंके विनाशसे व्ययको प्राप्त होता है और अन्य—किन्हीं पर्यायोंके उत्पादसे उदयको प्राप्त करता है तथा द्रव्यत्वरूपसे वह शाश्वत रहता है। अर्थात् सदा स्थिर बना रहता है। इस प्रकार द्रव्य एक ही क्षणमें उत्पादादित्रयात्मक प्रसिद्ध होता है।

भावार्थ—किसी पदार्थकी पूर्व अवस्थाका विनाश होना व्यय कहलाता है, उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिको उत्पाद कहते हैं और इन पूर्व तथा उत्तर अवस्थाओंमें रहनेवाला वस्तुका वस्तुत्व ध्रौव्य कहलाता है। जैसे किसी मलिन वस्त्रको साबुन और पानीके निमित्तसे धो डाला, वस्त्रकी मलिन अवस्थाका विनाश हो गया और शुक्ल-रूप उज्ज्वल अवस्थाका उत्पाद हुआ। मलिन तथा उज्ज्वल

अवस्थाद्वयमें रहनेवाला वस्त्रका वस्त्रत्व ज्योंका त्यों बना रहा—वह नष्ट नहीं हुआ, इसीको ध्रौव्य कहते हैं। इसी तरह द्रव्य प्रत्येक समयमें उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता है और पूर्वअवस्थासे विनष्ट होता है और द्रव्यत्व-स्वभावसे ध्रुवरूप रहता है। अतः ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट है कि द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौयात्मक है। स्वामी समन्तभद्राचार्यके आप्तमीमांसागत निम्न पद्योंसे भी द्रव्य उत्पादादित्रयस्वरूप ही सिद्ध होता है :—

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति स-हेतुकम् ॥५६॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

अर्थात्—जो मनुष्य घट चाहता है वह उसके फूट जानेपर शोकको प्राप्त होता है, जो मुकुट चाहता है वह मुकुटरूप अभिलषित कार्यकी निष्पत्ति हो जानेसे हर्षित होता है। और जो मनुष्य केवल सुवर्ण ही चाहता है वह घटके विनाश और मुकुटकी उत्पत्तिके समय भी सोनेका सद्भाव बना रहनेसे माध्यस्थ्यभावको अपनाये रहता है। यदि सुवर्ण उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य-स्वरूप न हो तो यह तीन प्रकारके शोकादिरूप भाव नहीं हो सकते। अतः इन शोकादिकको सहेतुक—व्यय, उत्पाद और ध्रौव्यनिमित्तक ही मानना चाहिए। जिस व्रती-मनुष्यके केवल दूध पीनेका व्रत है वह दही नहीं खाता है, जिसके दही खानेका नियम है वह दूध नहीं पीता है। किन्तु जिसके अगोरसका व्रत है वह दूध और दही इन दोनोंको ही नहीं खाता है। इससे मालूम होता है कि पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप है।

उत्पादका स्वरूप—

बहिरन्तरङ्गसाधनसद्भावे सति यथेह तन्त्वादिषु ।
द्रव्यावस्थान्तरो हि प्रादुर्भावः पटादिवन्न सतः ॥१७॥

अर्थ—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग उभय साधनोंके मिलनेपर द्रव्यकी अन्यावस्थाका होना उत्पाद है। जैसे लोकमें तन्त्वादि और तुरीवेमादिके होनेपर पटादि कार्य निष्पन्न होते हैं तो पटादिका उत्पाद कहा जाता है—तन्त्वादिकका नहीं, उसी प्रकार उपादान और निमित्त उभयकारणोंके मिलनेपर द्रव्यकी पूर्व अवस्थाके त्यागपूर्वक उत्तर अवस्थाका होना उत्पाद है। सत (द्रव्य) का उत्पाद नहीं होता। वह तो ध्रुवरूप रहता है।

ध्रौव्यका स्वरूप—

पूर्वावस्था-विगमेऽप्युत्तरपर्याय-समुत्पादे हि ।
उभयावस्थाव्यापि च तद्भावाव्ययमुवाच तन्नित्यम् ॥१८॥

अर्थ—जो पदार्थकी पूर्व पर्यायके विनाश और उत्तर पर्यायके उत्पाद होनेपर भी उन पूर्व और उत्तर दोनों ही अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहने वाला है अर्थात उनमें विद्यमान रहता है और जिसको आचार्य उमास्वातिने 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' (तत्त्वा० ५-३१) कहा है अर्थात वस्तुके स्वभावका व्यय (विनाश) न होनेको नित्य प्रतिपादित किया है वह ध्रौव्य है† ।

भावार्थ—एक वस्तुमें अविरोधी जो क्रमवर्ती पर्यायें होती हैं उनमें पूर्व पर्यायोंका विनाश होता है, उत्तर पर्यायोंका समुत्पाद होता है, और इस तरह उत्पाद-व्ययके होते हुए भी द्रव्य जो

† 'अनादिपारिणामिकभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः ध्रौव्यम् ।' सर्वार्थसिद्धि ५—३०

अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है यही उसकी ध्रौव्यता अथवा नित्यता है। जिस तरह एक ही सुवर्ण कटक, कुण्डल, केयूर, हार, आदि विभिन्न आभूषण-पर्यायोंमें उत्पाद-व्यय करता हुआ भी अपने सुवर्णत्वसामान्यकी अपेक्षा ज्योंका त्यों क़ायम रहता है, और यह स्वर्णत्व ही स्वर्णका नित्य अथवा ध्रौव्यपना है।

द्रव्य, गुण और पर्यायका सत्स्वरूप—

सद्द्रव्यं सच्च गुणः सत्पर्यायः स्वलक्षणाद्भिन्नाः ।
तेषामेकास्तित्वं सर्वं द्रव्यं प्रमाणतः सिद्धम् ॥ २० ॥

अर्थ—सत द्रव्य है, सत् गुण है और सत् पर्याय है—अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत्स्वरूप हैं और यद्यपि अपने अपने लक्षणोंसे वे भिन्न हैं तथापि उन तीनोंका सतकी दृष्टिसे एक अस्तित्व है और इस लिये सत्सामान्यकी अपेक्षासे सभी प्रमाणसे द्रव्य सिद्ध हैं। किन्तु सत विशेषकी अपेक्षासे तो तीनों पृथक् पृथक् ही हैं।

भावार्थ—द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत्स्वरूप हैं; किन्तु लक्षण-भिन्नतासे तीनोंका अस्तित्व जुदा जुदा है। ये एक ही द्रव्यमें रहते हैं—फिर भी अपनी अवान्तर-सत्ताको नहीं छोड़ते।

ध्रौव्यादिका द्रव्यसे कथंचित भिन्नत्व—

ध्रौव्योत्पादविनाशा भिन्ना द्रव्यात्कथंचिदिति नयतः ।
युगपत्सन्ति विचित्रं स्याद्द्रव्यं तत्कुदृष्टिरिह नेच्छेत् ॥२१॥

अर्थ—ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश ये द्रव्यमें नयदृष्टि (पर्यायार्थिकनय) से कथंचित भिन्न हैं और तीनों द्रव्योंमें युगपत

* 'सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ........।'
—प्रवचनसारे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः।

होते हैं। इस विचित्र नानारूप (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) द्रव्य-को एकान्ती नहीं मानते।

भावार्थ—उपर्युक्त उत्पादादि तीनों द्रव्यसे कथंचित् भिन्न हैं और वे प्रतिक्षण एक साथ होते रहते हैं। एकान्तवादी अनुभवसिद्ध इस नानारूप द्रव्यको स्वीकार नहीं करते। वे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको अलग अलग क्षणमें मानते हैं। उनका कहना है—कि जिस समय उत्पाद होगा उस समय व्यय नहीं होगा और जिस समय व्यय होगा उस समय उत्पाद या ध्रौव्य नहीं हो सकता, इस तरह एक कालमें तीनों नहीं बन सकते; किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। जिस प्रकार दीपक जलाते ही प्रकाशकी उत्पत्ति और तमो-निवृत्ति तथा पुद्गलरूपसे स्थिति ये तीनों एक ही समयमें होते हैं[†] उसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य एक ही साथ होते हैं।

उत्पादादि और गुण-गुण्यादिमें अविनाभावका प्रतिपादन—

अविनाभावो विगम-प्रादुर्भाव-ध्रुवत्रयाणां च।
गुणि-गुण-पर्यायाणामेव तथा युक्तितः सिद्धम् ॥२२॥

अर्थ—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंका परस्पर अविनाभाव है तथा गुण, गुणी और पर्यायोंका भी अविनाभाव युक्तिसे सिद्ध है।

भावार्थ—उत्पाद, व्ययके बिना नहीं होता, व्यय, उत्पादके बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय ये दोनों ध्रौव्यके बिना नहीं होते, और ध्रौव्य उत्पाद-व्ययके बिना नहीं होता, इसलिये

---

† 'नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति'
—स्वयंभूस्तो० का २४

ये तीनों परस्परमें अविनाभूत हैं*। जैसे घड़का उत्पाद, मिट्टीके पिंडका विनाश और दोनोंमें मिट्टीका मौजूद रहना ये तीनों एक साथ उपलब्ध होते हैं। उसी तरह प्रत्येक पदार्थमें भी उत्पादादि तीनोंका अविनाभाव समझना चाहिये। इसी तरह गुणी, गुण तथा पर्यायोंका भी अभिनाभाव है। गुणीमें गुण रहते हैं वे उससे पृथक् नहीं हैं। और गुणी गुणोंके साथ ही उपलब्ध होता है, गुणोंके बिना नहीं। जैसे जीव और उसके ज्ञानादिगुणोंका परस्परमें अविनाभाव है। ज्ञानादिगुण जीवमें ही पाये जाते हैं और जीव भी ज्ञानादिगुणोंके साथ ही उपलब्ध होता है। अतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी तरह गुण, गुणी और पर्यायोंमें भी अविनाभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है।

द्रव्यमें सत्व और असत्वका विधान—

स्वीयाच्चतुष्टयात्किल सदिति द्रव्यं ह्यबाधितं गदितम्।
परकीयादिह तस्मादसदिति कस्मै न रोचते तदिदम् ॥२३॥

अर्थ—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप अपने चतुष्टयसे द्रव्य सत् है—अस्तित्वरूप कहा गया है, इसमें कोई बाधा नहीं आती। और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप परकीय चतुष्टयसे द्रव्य असत्-नास्तित्वरूप है। वस्तुका यह नास्तित्व स्वरूप किसके लिये रुचिकर नहीं होगा? अर्थात् विचार करनेपर सभीको रुचिकर होगा।

भावार्थ—द्रव्य अपने चतुष्टयसे सत्स्वरूप है और परकीय चतुष्टयसे असत्रूप है। जैसे घट अपने चतुष्टयसे घटरूप है

---

* ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण॥
—प्रवचनसारे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः

और पटादि परद्रव्यचतुष्टयसे वह घटरूप नहीं है। यदि घटको स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा सद्रूप न माना जाय तो आकाश-कुसुमकी तरह उसका अभाव होजावेगा। और परद्रव्यादि चतुष्टय-की अपेक्षा यदि घटको असद्रूप न माना जाय तो घटको भी पटादिरूप कहनेमें कोई बाधा नहीं आएगी, और इससे सब-व्यवहारका लोप होजायगा। इससे यह निश्चित है कि प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत् है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असत् है। ऊपर बताये हुए सत्व और असत्वरूप दोनों धर्म प्रत्येक वस्तुमें एक साथ पाये जाते हैं, वे उससे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यदि इन्हें सर्वथा भिन्न माना जाय तो वस्तुके स्वरूपकी प्रतिष्ठा नहीं बन सकती—सत्व और असत्वमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके आप्त-मीमांसागत वाक्योंसे प्रकट है*।

द्रव्यमें एकत्व और अनेकत्वकी सिद्धि—

एकं पर्ययजातैः समप्रदेशैरभेदतो द्रव्यम् ।
गुणि-गुणभेदान्नियमादनेकमपि न हि विरुद्ध्येत ॥२४॥

अर्थ—द्रव्य अपनी पर्यायों और समप्रदेशोंसे अभिन्न होनेके कारण एक है और गुण-गुणीका भेद होनेसे निश्चयसे अनेक भी हैं। द्रव्यकी यह एकानेकता विरुद्ध नहीं है।

भावार्थ—द्रव्यके स्वरूपका जब हम नय-दृष्टिसे विचार करते हैं तो द्रव्य एक और अनेक दोनोंरूप प्रसिद्ध होता है; क्योंकि

* अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥१७॥
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥१८॥

अपने समप्रदेशों और पर्यायोंसे वह अभिन्न है—भिन्न नहीं है, इसलिये तो एकरूप है। परन्तु जब हम उसी द्रव्यका गुण-गुणी-के भेदसे विचार करते हैं तब हमें उसमें गुणी और गुणका स्पष्ट भेद मालूम होता है अतः अनेकरूप है, और द्रव्यकी यह एकता तथा अनेकता कोई विरुद्ध नहीं है। भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे रहनेवाले धर्मोंमें विरोध-जैसी कोई चीज़ रहती ही नहीं।

द्रव्यमें नित्यता और अनित्यताका प्रतिपादन—

नित्यं त्रिकाल-गोचर-धर्मत्वात्प्रत्यभिज्ञतस्तदपि।
क्षणिकं काल-विभेदात्पर्यायनयादभाणि सर्वज्ञैः ॥२५॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे द्रव्यसामान्य-लक्षणसमुद्द्योतको द्वितीयः परिच्छेदः।

अर्थ—द्रव्यार्थिकनयसे अथवा तीनों कालोंमें रहनेवाले द्रव्य-के अन्वयको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानप्रमाणसे द्रव्य नित्य है और कालभेदरूप पर्यार्थिकनयसे क्षणिक—अनित्य है। इस प्रकार सर्वज्ञदेवने द्रव्यको नित्य और अनित्य दोनोंरूप कहा है।

भावार्थ—केवल द्रव्यको विषय करनेवाले द्रव्यार्थिकनयसे और भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूप त्रिकालको विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञानसे द्रव्य नित्य है। और केवल पर्यायको विषय करनेवाले कालभेदरूप पर्यायार्थिकनयसे द्रव्य क्षणिक (अनित्य) है। जैसे एक ही सुवर्णद्रव्यके कटक, कुण्डल, केयूर आदि अनेक आभूषण बना लेनेपर भी द्रव्यत्वरूपसे उन सब आभूष-णोंमें सुवर्णत्व विद्यमान रहता है—उसके पीतत्वादि गुणोंका किंचित् भी विनाश नहीं होता, अतः द्रव्यत्वसामान्यकी अपेक्षासे सुवर्ण नित्य है; किन्तु इसीका जब हम पर्याय-दृष्टिसे विचार

करते हैं तब कुण्डलको मिटाकर हार बना लेनेपर हार-पर्यायके समयमें कुण्डलरूप पर्याय नहीं रहती है। अतः पर्यायोंकी अपेक्षा सुवर्णद्रव्य अनित्य रूप भी है।

इस प्रकार श्रीअध्यात्म-कमल-मार्तण्ड नामके शास्त्रमें द्रव्योंका सामान्यलक्षण प्रतिपादन करनेवाला द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

तृतीय परिच्छेद

(१) जीव-द्रव्य-निरूपण

जीवद्रव्यके कथनकी प्रतिज्ञा—

जीवो द्रव्यं प्रमिति-विषयं तद्गुणाश्चेत्यनन्ताः
पर्यायास्ते गुणि-गुणभवास्ते च शुद्धा ह्यशुद्धाः।
प्रत्येकं स्युस्तदखिलनयाधीनमेव स्वरूपम्
तेषां वक्ष्ये परमगुरुतोऽहं च किंचिज्ज्ञ एव ॥ १ ॥

अर्थ—'जीव' द्रव्य है, प्रमाणका विषय है—प्रमाणसे जानने योग्य है, अनन्तगुणवाला है—प्रमाणसे सिद्ध उसके अनन्त गुण हैं, तथा गुणी और गुण इन दोनोंसे होनेवाली शुद्ध और अशुद्ध ऐसी दो प्रकारकी पर्यायोंसे युक्त है। इनमें प्रत्येकका स्वरूप सभी नयोंसे जाना जाता है—द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्य और गुणोंका तथा पर्यायार्थिकनयसे पर्यायोंका स्वरूप (लक्षण) प्रसिद्ध होता है। अथवा यों कहिये कि इन द्रव्य, गुण और पर्यायोंकी

सिद्धि तत्तत् नयकी अपेक्षासे होती है। मैं अल्पज्ञ 'राजमल्ल' परम गुरु-श्रीअरहंत भगवान्के उपदेशानुसार उन सब द्रव्यों, गुणों और पर्यायोंका स्वरूप कथन करूँगा—अपनी बुद्धिके अनुसार उनका यथावत् निरूपण आगे करता हूँ।

भावार्थ—चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य है। यह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणोंसे जाना जाता है। तथा अनन्त पर्यायों और अनन्तगुणोंसे विशिष्ट होनेके कारण द्रव्य है। क्योंकि गुण और पर्यायवाले पदार्थको द्रव्य कहा गया है*। और पर्यायें चूँकि शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकारकी हैं, इसलिये जीव भी दो तरहके हैं†—शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव। अथवा भव्यजीव और अभव्यजीव। जो जीव रत्नत्रय-प्राप्तिके योग्य हों—आगामीकालमें सम्यग्दर्शनादि परिणामसे युक्त होंगे, वे भव्यजीव हैं—शुद्ध जीव हैं—और जो रत्नत्रय-प्राप्तिके योग्य न हों—सम्यग्दर्शनादिको प्राप्त न कर सकें वे अभव्यजीव हैं—अशुद्ध जीव हैं। भव्य और अभव्य ये दो तरहके जीव स्वभावसे ही हैं‡। उदाहरणके द्वारा इनको इस प्रकार समझिये कि, कोई स्वर्णपाषाण ऐसा होता है जो तापन, छेदन, ताडन आदि क्रियाओंके करनेसे शुद्ध हो जाता है, पर अन्धपाषाण कितने ही कारणोंके मिल जानेपर भी पाषाण ही रहता है—शुद्ध होता ही नहीं। इसी तरह जो जीव, सम्यक्त्वादिको प्राप्त करके शुद्ध हो सकते हैं उन्हें भव्य-जीव कहा है और जो अंधपाषाणकी

---

* 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'—तत्त्वार्थ० ५-३८।

† 'जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः'—आप्तमी० का ९९।

‡ 'शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः॥' —आप्तमी० १००।

तरह कभी भी शुद्ध न होवेंगे—अपनी स्वाभाविक अशुद्धतासे सदैव लिप्त रहेंगे—वे अभव्यजीव हैं×। यह स्वभावगत चीज है और स्वभाव अतर्क्य होता है।

'जीव'का व्युत्पत्तिपूर्वक लक्षण—

प्राणैर्जीवति यो हि जीवितचरो जीविष्यतीह ध्रुवं
जीवः सिद्ध इतीह लक्षणबलात्प्राणास्तु सन्तानिनः।
भाव-द्रव्य-विभेदतो हि बहुधा जंतो कथंचित्त्वतः
साक्षात् शुद्धनयं प्रगृह्य विमला जीवस्य ते चेतना ॥२॥

अर्थ—जो 'प्राणोंसे जी रहा है, जिया था और निश्चयसे जीवेगा' इस लक्षणके अनुसार वह 'जीव' नामका द्रव्य है। और ये प्राण सन्तानी—अन्वयी—जीव और पुद्गल द्रव्यके साथ अविष्वक्भाव (तादात्म्य) सम्बन्ध रखनेवाले कहे गये हैं। ये प्राण द्रव्य और भावके भेदसे अनेक प्रकारके—दो तरहके हैं। ये जीव द्रव्यसे कथंचित्—किसी एक अपेक्षासे—भिन्न और किसी एक अपेक्षासे अभिन्न हैं। शुद्ध निश्चयनयसे तो जीव द्रव्यकी निर्मल चेतना—ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग ही प्राण हैं।

भावार्थ—व्यवहारनयसे इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन यथासम्भव चार प्राणों द्वारा जो जीता है, पहले जिया था और आगे जीवेगा वह जीव पदार्थ है। निश्चयनयसे तो जिसके

× 'सम्यक्त्वादि-व्यक्तिभावाऽभावाभ्यां भव्याऽभव्यत्वमिति विकल्पः, कनकेतरपाषाणवत्। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति। तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्यः तद्विपरीतोऽभव्य इति'—राजवार्तिक ८-६।

चेतना (ज्ञान और दर्शन) लक्षण प्राण पाये जावें वह जीव है। यह चेतना संसारी और मुक्त दोनों ही प्रकारके जीवोंमें होती है। और त्रिकालाबाधित-अनवच्छिन्नरूपसे हमेशा विद्यमान रहती है*। वे प्राण दो तरहके हैं १ द्रव्यप्राण और २ भावप्राण। पुद्गलद्रव्यरूप इन्द्रियादि दश प्राणोंको तो द्रव्यप्राण कहते हैं और जीवकी चेतना—ज्ञान और दर्शनको भावप्राण कहते हैं। अतएव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे 'चेतना' रूप ही प्राण कहे गये हैं। द्रव्यप्राण दश हैं—इन्द्रिय ५ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र), बल ३ (मन, वचन और काय) श्वासोच्छ्वास १ तथा आयु १ इस तरह पुद्गलकी रचनास्वरूप द्रव्यप्राण कुल १० हैं। इन दोनों ही प्रकारके द्रव्य और भावप्राणोंको धारण करनेसे

---

१ तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्चयणयदो दु चेदणा जस्स ॥—द्रव्यसं० ३

'इत्थंभूतश्चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैर्यथासंभवं जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा यो व्यवहारनयात् स जीवः। द्रव्येन्द्रियादिद्रव्यप्राणा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, भावेन्द्रियादिः क्षायोपशमिकप्राणाः पुनरशुद्धनिश्चयनयेन। सत्ताचैतन्यबोधादिः शुद्धभावप्राणाः शुद्धनिश्चयनयेनेति'

—बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति, गाथा ३

'पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीवदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो' ॥ —पंचास्ति० ३०

टी०—'इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणाः। तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणाः, पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणाः, तेषामुभयेषामपि त्रिष्वपि कालेष्वनवच्छिन्नसंतानत्वेन धारणात्संसारिणो जीवत्वं। मुक्तस्य तु केवलानामेव भावप्राणानां धारणात्तदवसेयमिति'।

—श्रीअमृतचन्द्राचार्यः

संसारी जीवोंमें 'जीवत्व' है और केवल भावप्राणोंको धारण करनेसे मुक्त जीवोंमें 'जीवपना' है।

'जीव' द्रव्यकी अपने ही प्रदेश, गुण और पर्यायोंसे सिद्धि—

संख्यातीतप्रदेशास्तदनुगतगुणास्तद्भवाश्चापि भावाः
एतद्द्रव्यं हि सर्वं चिदभिदधिगमात्तन्तुशौक्ल्यादिपुञ्जे।
सर्वस्मिन्नेव बुद्धिः पट इति हि यथा जायते प्राणभाजां
सूक्ष्मं लक्ष्म प्रवेत्ति प्रवरमतियुतः क्वापि काले नचाज्ञः ॥३॥

अर्थ—जीवद्रव्यके असंख्यात प्रदेश, अन्वयी (साथ रहनेवाले) गुण और तद्भव (उनसे होनेवाले) भाव-पर्याय ये सब जीवद्रव्य हैं; क्योंकि इन प्रत्येकमें चेतनाकी ही अभेदरूपसे उपलब्धि होती है। जैसे तन्तु और शुक्लता आदिके समूहमें लोगोंको पट-की बुद्धि होती है। अतएव वे सब पट ही कहलाते हैं। प्रवरमति—बुद्धिमान् पुरुष इनके सूक्ष्म लक्षणको—जीवद्रव्यके प्रदेश, गुण और उसकी पर्यायोंको 'जीवद्रव्य' कहनेके रहस्यको—समझ लेता है पर अज्ञ—मन्दबुद्धि पुरुष कभी नहीं जान पाता।

भावार्थ—जिस प्रकार तन्तु और शुक्लता आदि सब पट कहे जाते हैं अथवा द्रव्य, गुण और पर्याय ये सब ही जिस प्रकार सत् माने जाते हैं। सत् द्रव्य है सत् गुण है और सत् पर्याय है इस तरह सत् तीनोंमें अविष्वक्भावसे रहता है। यदि केवल द्रव्य ही अथवा गुण या पर्याय ही सत् हो तो शेष असत्—खपुष्पवत् होजायेंगे। अतः द्रव्य, गुण और पर्याय तीनोंमें ही सत् समान-रूपसे व्याप्त है और इसलिये तीनों सत् कहे जाते हैं। उसी प्रकार जीवद्रव्यके प्रदेश, उसके गुण और पर्यायें ये सब भी जीवद्रव्य हैं; क्योंकि इन तीनों ही में चैतन्यकी अभेदरूपसे उपलब्धि होती

है। बुद्धिमान् पुरुषोंके लिये यह सूक्ष्म-तत्व समझना कठिन नहीं है। हाँ, मन्दबुद्धियोंको कठिन है। हो सकता है वे इस तत्वको न समझ सकें। पर यह जरूर है कि वे भी अभ्यास करते करते समझ सकते हैं और वस्तुस्वभावका निर्णय कर सकते हैं।

जीवद्रव्यका शुद्ध और अशुद्धरूप—

जीवद्रव्यं यथोक्तं विविधविधियुतं सर्वदेशेषु याव-
द्भावैः कर्मप्रजातैः परिणमति यदा शुद्धमेतन्न तावत् ।
भावापेक्षाविशुद्धो यदि खलु विगलेद्घातिकर्मप्रदेशः
साक्षाद्द्रव्यं हि शुद्धं यदि कथमपि वाऽघातिकर्मापि नश्येत्॥४

अर्थ—जीवद्रव्य, जैसा कि कहा गया है, जबतक नानाविध कर्मोंसे सहित है और कर्मजन्य पर्यायोंके द्वारा सब क्षेत्रोंमें परिणमन करता है तबतक यह शुद्ध नहीं है—अशुद्ध है। यदि घातिया—जीवके अनुजीवी गुणोंको घातनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म आत्मासे सर्वथा अलग होजावें तो वह भावोंकी अपेक्षा विशुद्ध है और यदि किसी प्रकार अघातिया कर्म भी नाशको प्राप्त हो जावें तो साक्षात्-पूर्णतः शुद्धद्रव्य है। इस तरह जीवद्रव्य शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकार अथवा शुद्ध, अशुद्ध और विशुद्धके भेदसे तीन प्रकारका है।

भावार्थ—जीवद्रव्यके साथ जबतक कर्मरूपी बीज लगा हुआ है तबतक भवाङ्कुर पैदा होता रहता है और जन्म-मरण आदि रूपसे विभाव परिणमन होते रहते हैं और तभी तक जीव अशुद्ध है। परन्तु संयम, गुप्ति, समिति आदि संवर और निर्जराके द्वारा जब घातिया कर्मोंके क्षीण होजानेपर अनन्तचतुष्टयका धनी

सकल (सदेह) परमात्मा होजाता है तब वह विशुद्ध आत्मा-उत्कृष्ट आत्मा कहा जाता है। तथा जब अवशेष चार अघातिया कर्मोंके भी क्षीण हो जानेपर आठगुणों या अनन्तगुणोंका स्वामी निकल (विदेह) परमात्मा हो जाता है तब वह पूर्ण शुद्ध आत्मा अर्थात् सर्वोत्कृष्ट-आत्मा माना गया है, और ऐसी सर्वोत्कृष्ट आत्माओंको जैन-शाशनमें 'सिद्ध' परमेष्ठी कहा गया है।

जीवद्रव्यके सामान्य और विशेषगुणोंका कथन—

संख्यातीतप्रदेशेषु युगपदनिशं विष्नवंश्चिद्विशेषा-
स्ते सामान्या विशेषाः परिणमनभवाऽनेकभेदप्रभेदाः।
नित्यज्ञानादिमात्राश्चिदवगमकरा ह्युक्तिमात्रप्रभिन्नाः
श्रीमर्वज्ञैर्गुणास्ते समुदितवपुषो ह्यात्मतत्त्वस्य तत्त्वात् ॥५॥

अर्थ—अपने असंख्यात प्रदेशोंमें एक साथ निरन्तर व्याप्त रहनेवाले चैतन्य आदि जीवद्रव्यके सामान्य गुण हैं और यथार्थ-रूपसे आत्मतत्त्वके ज्ञायक—ज्ञान करानेवाले, परिणमनजन्य, अनेक भेदों और प्रभेदोंसे युक्त, कथनमात्रमें भिन्न, समूहरूप, नित्यज्ञानादि गुणोंको श्रीसर्वज्ञदेवने विशेषगुण कहा है।

भावार्थ—जीवद्रव्यके समस्तगुण दो भेदरूप हैं:—१ सामान्य-गुण, और २ विशेषगुण। सामान्यगुण वे हैं जो जीवद्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें—सर्वत्र व्याप्त होकर—रह रहे हैं और वे चेतना आदि हैं तथा विशेषगुण वे हैं जो इसी चेतनाके परिणाम हैं और अनेक भेदरूप हैं। वे दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य आदि रूप हैं।

मुक्ति अवस्थामें जीवद्रव्यके स्वभाव-परिणमनकी सिद्धि—

मुक्तौ कर्मप्रमुक्तौ परिणमनमदः स्वात्मधर्मेषु शश्व-
द्धर्मांशैश्च स्वकीयागुरुलघुगुणतः स्वागमात्सिद्धसत्त्वात् ।
युक्तेः शुद्धात्मनां हि प्रमितिविषयास्ते गुणानां स्वभावा-
त्पर्यायाः स्युश्च शुद्धा भवनविगमरूपास्तु वृद्धेश्च हानेः ॥६॥

अर्थ—द्रव्य और भाव कर्मोंसे सर्वथा छूटना मुक्ति है। मुक्तिमें आत्मा आगम-प्रमाणसे सिद्ध अपने अनन्तानन्त अगुरु-लघुगुणोंके निमित्तसे अपने आत्मधर्मों—स्वभावपर्यायोंमें—धर्मांशोंसे—स्वभावपर्यायोंके द्वारा सदा परिणमन करता है। युक्ति और प्रमाणसे यह बात प्रतीत होती है कि शुद्धात्माओंमें और उनके गुणोंमें षट्स्थानपतित हानि और वृद्धि होनेसे उत्पाद तथा व्ययरूप शुद्ध ही स्वभाव-पर्यायें हुआ करती हैं।

भावार्थ—मोक्ष अवस्थामें जीवद्रव्यमें स्वभावपर्यायें—आत्माके निजस्वभावरूप परिणमन होते हैं। वहाँ विभाव पर्यायें नहीं होतीं; क्योंकि विभावपर्यायोंको उत्पन्न करनेका कारण कर्म है और कर्म मुक्तिमें रहता नहीं। अतः मुक्तिमें विभावपर्यायोंका बीज न होनेसे वहाँ उनकी सम्भावना नहीं है और इसलिये मोक्षमें मुक्तात्माओंका शुद्ध स्वभावरूपसे ही परिणमन होना है।

जीवद्रव्यके वैभाविक भावोंका वर्णन—

संसारेऽत्र प्रसिद्धे परसमयरति प्राणिनां कर्मभाजां
ज्ञानावृत्यादिकर्मोदयसमुपशमाभ्यां क्षयाच्छान्तितो वा ।
ये भावाः क्रोधमानादिसमुपशमसम्यक्त्ववृत्तादयो* हि
बुद्धिश्रुत्यादिबोधाः कुमतिकुदृगचारित्रगत्यादयश्च ॥ ७ ॥

* 'क्रोधमानादिसमुपशमाभ्यां सम्यक्त्वादयो' इत्यपि पाठः।

चक्षुर्दृष्ट्यादि चैतद्धि समलपरिणामाश्च संख्यातिरिक्ताः
सर्वे वैभाविकास्ते परिणतिवपुषो धर्मपर्यायसंज्ञाः ।
प्रत्यक्षादागमाद्वा ह्यनुमितिमतितो लक्षणाच्चेति सिद्धा-†
स्तत्सूक्ष्मान्तःप्रभेदाश्च गतसकलदृग्मोहभावैर्विवेच्याः‡ ॥८॥
—(युग्मम्)

अर्थ—पर-परिणामनरूप इस संसारमें कर्मसहित जीवोंके ज्ञानावरणादिकर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और शान्ति अर्थात् क्षयोपशमसे यथायोग्य जो क्रोध, मानादि, उपशमसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व, उपशमचरित्रादि, बुद्धि, श्रुति आदि सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, मिथ्यदर्शन, मिथ्याचरित्र, गति और चक्षुर्दर्शन आदि भाव तथा और भी संख्यातीत मलिन परिणाम पैदा होते हैं—वे सभी वैभाविक परिणाम हैं। तथा धर्मपर्यायसंज्ञक हैं। ये सब ही प्रत्यक्षसे, आगमसे अथवा अनुमानसे और लक्षणोंसे सिद्ध हैं। इनके भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद और भेदोंके भी भेद (प्रभेद) श्रीवीतरागदेवके द्वारा प्रतिपाद्य हैं—श्री सर्वज्ञ भगवान् ही इनका विशेष निरूपण करनेमें समर्थ हैं।

भावार्थ—जीव द्रव्यमें एक वैभाविक शक्ति है वह संसार अवस्थामें कर्मके निमित्तसे क्रोध, मान, माया आदि विभावरूप परिणमन कराती है और कर्मके छूट जानेपर वही वैभाविक शक्ति मुक्ति-अवस्थामें केवलज्ञान आदि स्वभावरूप ही परिणमन कराती है। इस प्रकार जीवद्रव्यके दो तरहके भाव हैं १ वैभाविकभाव और २ स्वाभाविकभाव। यहाँ इन दो पद्योंमें

---

† 'सिद्धः' इति मुद्रितप्रतौ पाठः।

‡ 'विवेच्यः' इति मुद्रितप्रतौ पाठः।

वैभाविक भावोंका कथन किया गया है। ये वैभाविक भाव संक्षेपमें तीन प्रकारके हैं—१ औदयिक २ औपशमिक और ३ क्षायोपशमिक। औदयिकभाव वे हैं जो कर्मके उदयसे होते हैं और वे गति आदि इक्कीस प्रकारके कहे गये हैं*। औपशमिकभाव वे हैं जो कर्मके उपशमसे होते हैं और वे उपशमसम्यक्त्व तथा उपशमचारित्रके भेदसे दो तरहके हैं†। जो भाव कर्मोंके क्षय और उपशम दोनोंसे होते हैं वे क्षायोपशमिक भाव कहे गये हैं, इनके भी उत्तरभेद १८ हैं‡।

जीवके समल और विमल दो भेदोंका वर्णन—

आत्माऽसंख्यातदेशप्रचयपरिणतिर्जीवतत्त्वस्य तत्त्वा-
त्पर्यायः स्यादवस्थान्तरपरिणतिरित्यात्मवृत्त्यन्तरो हि।
द्रव्यात्मा स द्विधोक्तो विमल-समलभेदाद्धि सर्वज्ञगीत-
श्चिद्द्रव्यास्तित्वदर्शी नयविभजनो रोचनीयः प्रदक्षैः ॥६॥

अर्थ—अपने असंख्यात प्रदेशोंमें ही परिणमन करना जीवतत्त्वकी वास्तविक शुद्धपर्याय है और अवस्थासे अवस्थान्तर—पर्यायसे पर्यायान्तर—रूप परिणमन करना अशुद्ध पर्याय है। यह जीवतत्त्व चिद्द्रव्यके अस्तित्वका दर्शी है—देखनेवाला है,

* 'गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकषड्भेदाः' —तत्त्वार्थसूत्र २–६

† 'सम्यक्त्व-चारित्रे' —तत्त्वार्थसूत्र २–३

‡ 'ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च'—तत्त्वार्थसूत्र २–५

नयों द्वारा विभजनीय है—विभागपूर्वक जानने योग्य है, और विद्वानों द्वारा रोचनीय है—प्राप्त करनेके योग्य हैं। इसके सर्वज्ञ-देवने दो भेद कहे हैं—(१) विमल आत्मा और (२) समल आत्मा। अथवा मुक्तजीव और संसारी जीव।

भावार्थ—द्रव्योंमें दो तरहकी शक्तियाँ विद्यमान हैं—(१) भाववती और (२) क्रियावती। जीव और पुद्गल द्रव्यमें तो भाववती और क्रियावती दोनों शक्तियाँ वर्णित की गई हैं तथा शेष चार द्रव्यों (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में केवल भाववती शक्ति कही गई है। इन दोनों शक्तियोंको लेकर द्रव्योंमें परिणमन होता है। भाववती शक्तिके निमित्तसे तो शुद्ध ही परिणमन होता है और क्रियावती शक्तिसे अशुद्ध परिणमन होता है। अतः भाववती शक्तिके निमित्तसे होनेवाले परिणमनोंको शुद्धपर्यायें कहते हैं और क्रियावती शक्तिके निमित्तसे होनेवाले परिणमन अशुद्धपर्यायें कही जाती हैं। यहाँ फलितार्थरूपमें यह कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि जीव और पुद्गलोंमें उभय शक्तियोंके रहनेसे शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारकी पर्यायें होती हैं। तथा शेष चार द्रव्योंमें केवल भाववती शक्तिके रहनेसे शुद्ध ही पर्यायें होती हैं। जीवद्रव्यमें जो स्वप्रदेशोंमें परिणमन होता है वह उसकी शुद्ध पर्याय है और कर्मके संयोगसे अवस्थासे अवस्थान्तररूप जो परिणमन होता है वह अशुद्ध पर्याय है। यह जीवद्रव्य भिन्न भिन्न व्यवहारादिनयों द्वारा जाननेके योग्य है। इसके दो भेद हैं—(१) मुक्तजीव और (२) संसारीजीव। कर्मरहित जीवोंको मुक्तजीव अथवा विमल-आत्मा कहते हैं और कर्मसहित जीवोंको संसारी-जीव अथवा समल-आत्मा कहते हैं। आगेके दो पद्योंमें इन दोनोंका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं।

विमल आत्मा (मुक्तजीव) का स्वरूप—

कर्मापाये चरमवपुषः किंचिदूनं शरीरं
स्वात्मांशानां तदपि पुरुषाकारसंस्थानरूपम् ।
नित्यं पिण्डीभवनमिति वाऽकृत्रिमं मूर्तिवर्ज्यं
चित्पर्यायं विमलमिति चाभेद्यमेवान्वय्यङ्गम् ॥ १० ॥

अर्थ—कर्मके सर्वथा छूट जानेपर अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून (कम)* आत्मप्रदेशोंमें पुरुषाकाररूपसे स्थित, नित्य, पिण्डात्मक, अकृत्रिम, अमूर्तिक, अभेद्य और अन्वयी चित्पर्यायको 'विमल' आत्मा कहते हैं।

भावार्थ—विमल आत्मा अथवा मुक्त जीव वे हैं जो कर्म रहित हैं, अपने अन्तिम शरीरसे कुछ कम पुरुषाकाररूपसे परिणत आत्मप्रदेशोंके शरीररूप हैं, शाश्वत हैं—फिर कभी संसारमें लौटकर वापिस नहीं आते हैं, आत्मगुणोंके पिण्डभूत हैं, जन्म-मरणरूप कृत्रिमतासे रहित हैं, परद्रव्य-पुद्गलसे सम्बन्ध छूट जानेके कारण पुद्गलकी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्तिसे रहित हैं—अमूर्तिक हैं। अतएव शस्त्रादिसे भेदन रहित हैं और अपने अनन्तज्ञानादिगुणोंमें स्थिर हैं, चेतनद्रव्यकी शुद्धपर्यायरूप हैं। यहां जो मुक्त जीवोंको पर्यायरूप कहा है वह असङ्गत नहीं है, क्योंकि आत्माकी शुद्ध और अन्तिम सर्वोच्च अवस्था 'सिद्ध' पर्याय है जो सादि और अनन्त होती है और मुक्तजीव 'सिद्ध' कहे जाते हैं। फलितार्थ-जो आत्मा कर्मोंसे छूट गया है और अपने स्वाभाविक चैतन्यादि गुणोंमें लीन है वह विमल आत्मा-मुक्तजीव है।

* 'किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा'—द्रव्यसं० १४

'समल' आत्माका स्वरूप—

ये देहा देहभाजां गतिषु नरकतिर्यग्मनुष्यादिकासु
स्वात्मांशानां स्वदेहाकृतिपरिणतिरित्यात्मपर्याय एव ।
द्रव्यात्मा चेत्यशुद्धो जिनवरगदितः कर्मसंयोगतो हि
देशावस्थान्तरश्चेत्तदितरवपुषि स्याद्विवर्तान्तरश्च ॥ ११ ॥

अर्थ—देहधारियोंको नरक, तिर्यंच और मनुष्य आदि गतियोंमें जो शरीर धारण (प्राप्त) करना पड़ते हैं तथा उन शरीरोंके आकार जो आत्म-प्रदेशोंका परिणमन होता है, उन दोनोंको जिनेन्द्र भगवान्‌ने अशुद्ध आत्मपर्याय और अशुद्ध आत्मद्रव्य कहा है तथा इसीको 'समल' आत्मा—अशुद्ध जीवद्रव्य—कहा गया है। क्योंकि आत्मा कर्मका संयोग होनेके कारण ही देशान्तर, अवस्थान्तर और अन्य शरीरमें प्रवेश करता है, अतः नारकादि शरीर और आत्मप्रदेशोंका स्वदेहाकार परिणमन अशुद्ध आत्म-पर्याय और अशुद्ध आत्मद्रव्य हैं और ये दोनों ही 'समल' आत्मा हैं।

भावार्थ—यहाँ जो नारकादिशरीरको 'समल' आत्मा कहा गया है वह व्यवहारनयसे कहा है। अशुद्ध निश्चयनयसे स्वदेहाकारपरिणत आत्मप्रदेश अशुद्ध आत्मद्रव्य हैं अतएव दोनों ही 'समल' आत्मा हैं। इन्हींको संसारी जीव कहते हैं।

आत्माके अन्य प्रकारसे तीन भेद और उनका स्वरूप—

एकोऽप्यात्माऽन्वयात्स्यात्परिणतिमयतो भावभेदात्त्रिधोक्तः
पर्यायार्थाश्रयाद्वै परसमयरतत्वाद्बहिर्जीवसंज्ञः ।
भेदज्ञानाच्चिदात्मा स्वसमयवपुषो निर्विकल्पात्समाधेः
स्वात्मज्ञश्चान्तरात्मा विगतसकलकर्मा स चेत्स्याद्विशुद्धः॥१२॥

अर्थ—अन्वय (सामान्य) की अपेक्षासे—द्रव्यार्थिकनयसे—आत्मा एक है किन्तु परिणामात्मक होनेके कारण—पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे—भावोंको लेकर वह तीन प्रकारका कहा गया है* (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। पर-पर्यायमें लीन शरीरादि पर-वस्तुओंको अपना समझनेवाला आत्मा 'बहिरात्मा' है। भेदज्ञान और निर्विकल्पक समाधिसे आत्मामात्रमें लीन-शरीरादि पर-वस्तुओंको अपना न समझने और चिदानन्द स्वरूप आत्माको ही अपना समझनेके कारण स्वात्मज्ञ चैतन्य-स्वरूप आत्मा 'अन्तरात्मा' है तथा यही अन्तरात्मा सम्पूर्ण कर्म-रहित होजानेपर विशुद्ध आत्मा—'परमात्मा' कहा गया है।

भावार्थ—यद्यपि सामान्यदृष्टिसे आत्मा एक है तथापि परिणामभेदसे वह तीन प्रकारका है†—१ बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा और ३ परमात्मा। जब तक प्रत्येक संसारी जीवकी शरीरादि परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि रहती है या आत्मा मिथ्यात्वदशामें रहता है तब तक वह 'बहिरात्मा' कहलाता है। शरीरादिमें इस आत्मबुद्धिके त्याग होजाने और मिथ्यात्वके दूर होजानेपर जब आत्मा सम्यग्दृष्टि—आत्मज्ञानी होजाता है तब वह 'अन्तरात्मा' कहा जाता है। यह अन्तरात्मा भी तीन प्रकारका है—१ उत्तम अन्तरात्मा, २ मध्यम अन्तरात्मा और ३ जघन्य अन्तरात्मा। समस्त

---

* 'तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा॥'—मोक्षप्रा० ४

† 'अक्खाणि बाहिरप्पा अन्तरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो॥'—मोक्षप्रा० ५
'बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः॥'—समाधितंत्र ५

परिग्रहके त्यागी, निस्पृह, शुद्धोपयोगी-आत्मध्यानी मुनीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' हैं। देशव्रतोंको धारण करनेवाले गृहस्थ और छठे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ साधु 'मध्यम अन्तरात्मा' हैं। तथा चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं। अन्तर्दृष्टि होनेसे ये तीनों ही अन्तरात्मा मोक्षमार्गमें चलनेवाले हैं। परमात्मा दो प्रकारके हैं—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। घातियाकर्मोंको नाश करनेवाले और सम्पूर्ण पदार्थों-को जाननेवाले श्रीअरहंत भगवान 'सकल परमात्मा' हैं और सम्पूर्ण (घातिया और अघातिया) कर्मोंसे रहित, अशरीरी, सिद्ध परमेष्ठी 'निकल परमात्मा' हैं।

'आत्मा' के कर्तृत्व और भोक्तृत्वका कथन—

कर्ता भोक्ता कथंचित्परसमयरतः स्याद्विधीनां हि शश्व-
द्रागादीनां हि कर्ता स समलनयतो निश्चयात्स्याच्च भोक्ता।
शुद्धद्रव्यार्थिकाद्वा स परमनयतः स्वात्मभावान् करोति
भुंक्ते चैतान् कथंचित्परिणतिनयतो भेदबुद्ध्याऽप्यभेदे॥१३॥

अर्थ—व्यवहारनयसे आत्मा पर-पर्यायोंमें मग्न होता हुआ पुद्गलकर्मोंका कथंचित् कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्धनिश्चय-नयसे रागद्वेषादि चेतन-भावकर्मोंका कर्ता और भोक्ता है। शुद्धद्रव्यार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा आत्मीक शुद्ध-ज्ञान-दर्शनादि-भावोंका ही कथंचित् कर्ता और भोक्ता है। यद्यपि ये ज्ञान-दर्शनादि भाव आत्मासे अभिन्न हैं तथापि पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे भेद बुद्धि होनेके कारण भिन्न हैं। अतः आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनादि-परिणामोंका कथंचित् कर्ता और भोक्ता कहा जाता है।

भावार्थ—व्यवहारनयसे आत्मा पुद्गल-द्रव्य-कर्मों, अशुद्ध निश्चयनयसे रागद्वेषादि-चेतन-भावकर्मों और शुद्धनिश्चनयसे केवल आत्मीय-ज्ञान-दर्शनादि-परिणामोंका कथंचित् कर्ता और भोक्ता माना गया है।

अन्तरात्माका विशेष वर्णन—

भेदज्ञानी करोति स्वसमयरत इत्यात्मविज्ञानभावान्
भुंक्ते चैतांश्च शश्वत्तदपरमपदे वर्तते सोऽपि यावत्।
तावत्कर्माणि बध्नाति समलपरिणामान्विधत्ते च जीवो
ह्यंशेनैकेन तिष्ठेत्स तु परमपदे चेन्न कर्ता च तेषाम् ॥२४॥

अर्थ—भेदज्ञानी अन्तरात्मा अपनी आत्मामें लीन रहता हुआ आत्मीय ज्ञानमय-भावोंका कर्ता और भोक्ता है। यह जबतक जघन्य पदमें—बहिरात्मा अवस्थामें—रहता है तबतक कर्मोंको बांधता है और अशुद्ध परिणामोंको करता है, किन्तु जब एक अंशसे रहता है—'आत्माको आत्मा समझता है और परको पर समझता है' इस रूपसे अपनी प्रवृत्ति करता है और ऐसी प्रवृत्ति परमपदमें—अन्तरात्मा अवस्थामें—ही बनती है, तब फिर इन अशुद्धभावोंका न कर्ता है और न भोक्ता। उस समय तो केवल अपने शुद्ध चेतन भावोंका ही कर्ता और भोक्ता है।

आत्मामें शुद्ध और अशुद्ध भावोंके विरोधका परिहार—

शुद्धाऽशुद्धा हि भावा ननु युगपदिति स्वैकतत्त्वे कथं स्यु-
रादित्याद्युद्योत-तमसोरिव जल-तपनयोर्वा विरुद्धस्वभावात्।
इत्यारेका हि ते चेन्न खलु नयबलात्तुल्यकालेऽपि सिद्धे-
स्तेषामेव स्वभावाद्धि करणवशतो जीवतत्त्वस्य भावात्॥२५॥

शंका—एक आत्मामें परस्पर विरोधी शुद्ध और अशुद्धभाव कैसे संभव हैं ? क्योंकि इन दोनोंमें प्रकाश और अन्धकार तथा जल और अग्निकी तरह परस्पर विरोध है ?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है; क्योंकि नयकी अपेक्षासे एक कालमें भी आत्माके परिणामोंके वशसे और उनका वैसा स्वभाव होनेसे परस्पर विरुद्ध मालूम पड़ रहे शुद्धा-शुद्धभाव एक आत्मामें सम्भव हैं—अशुद्धनिश्चयनय या व्यवहारनयसे अशुद्धभाव और शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे शुद्धभाव कहे गये हैं। अतः एक आत्मतत्वमें इनके सद्भावमें कोई विरोध नहीं है।

भावार्थ—कालक्रमसे तो दोनों भाव एक आत्मामें सम्भव हैं ही; पर एक समयमें भी वे भाव अपेक्षाभेदसे सम्भव हैं। व्यवहारनय या अशुद्ध निश्चयनयकी विवक्षा या अपेक्षा होनेपर अशुद्धभाव और शुद्ध निश्चयनयकी विवक्षा एवं अपेक्षा होनेपर शुद्धभाव एक साथ स्पष्टतया सुप्रतीत होते हैं। आगे ग्रन्थकार इसका स्वयं खुलासा करते हैं।

आत्मामें शुद्ध और अशुद्धभावोंके होनेका समर्थन—

सद्दृग्मोहक्षतेः स्युस्तदुदयजनिभावप्रणाशाद्विशुद्धाः
भावा वृत्त्यावृतेर्वोदयभवपरिणामाप्रणाशादशुद्धाः ।
इत्येवं चोक्तरीत्या नयविभजनतो घोष इत्यात्मभावान्
दृष्टिं कृत्वा विशुद्धिं तदुपरितनतो भावतो शुद्धिरस्ति ॥१६॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम अथवा क्षयसे तथा उसके ही उदयजन्यभावोंके नाशसे विशुद्धभाव और चारित्रमोह-के उदयजन्य परिणामोंके नाश न होनेसे अर्थात् उनके सद्भावसे

अशुद्धभाव होते हैं—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके दर्शनमोहके उपशम अथवा क्षयसे औपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्वरूप शुद्ध-भाव तथा चारित्रमोहके उदयसे औदयिक क्रोध-मान-मायादिरूप अशुद्धभाव सम्भव हैं—इनके होनेमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार उक्त रीतिसे और नयभेदसे—नयविवक्षाको लेकर-शुद्धा-शुद्ध आत्मभावोंके प्रति कथन है—उनका प्रतिपादन किया जाता है। इसके ऊपर—चतुर्थ गुणस्थानके आगे—तो सम्यग्दर्शनको शुद्ध करके भावकी अपेक्षा शुद्धि है।

भावार्थ—चौथे गुणस्थानमें एक ही आत्मामें शुद्ध और अशुद्ध दोनों तरहके भाव उपलब्ध होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म-के क्षयसे क्षायिकरूप शुद्ध भाव और चारित्रमोहके उदयसे औदयिकरूप अशुद्धभाव स्पष्टतया पाये ही जाते हैं। अतः इनके एक जगह रहनेमें विरोधकी आशंका करना निर्मूल है।

उपयोगकी अपेक्षा आत्माके तीन भेद और शुभोपयोग तथा अशुभोपयोगका स्वरूप—

संक्लेशासक्तचित्तो विषयसुखरतः संयमादिव्यपेतो
जीवः स्यात्पूर्वबद्धोऽशुभपरिणतिमान् कर्मभारप्रवोढा।
दानेज्यादौ प्रसक्तः श्रुतपठनरतस्तीव्रसंक्लेशमुक्तो
वृत्त्याद्यालीढभावः शुभपरिणतिमान् सद्विधीनां विधाता ॥१७॥

अर्थ—जो संक्लेश परिणामी है, विषय-सुखलंपटी है, संय-मादिसे हीन है, पूर्वकर्मोंसे बद्ध है, ऐसा वह कर्मभारको ढोने-वाला जीव अशुभोपयोगी है। और जो दान, पूजा आदिमें लीन है, शास्त्रके पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनानेमें रत है—दत्तचित्त है—तीव्र संक्लेशोंसे रहित है, चारित्रादिसे सम्पन्न है, ऐसा शुभ-कर्मों—सत्प्रवृत्तियोंका कर्ता जीव शुभ परिणामी-शुभोपयोगी है।

भावार्थ—जो जीव हमेशा तीव्र संक्लेश परिणाम करता रहता है, पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदिका पालन नहीं करता है, अधिक परिग्रही और अधिक आरम्भी है, तीव्र कर्मोंवाला है वह अशुभ परिणामी कहा गया है। यह जीव सदा नवीन कर्मोंको ही बांधता और और उनके फलोंको भोगता रहता है। और इससे जो विपरीत है अर्थात् जो दयालु है, परका उपकारी है, मन्दकषायी है, दान-पूजा आदि सत्कार्योंमें तत्पर रहता है, सबका हितैषी है, संयम आदिका पालक है, तत्त्वाभ्यासी है, वह शुभ कार्योंका कर्ता शुभपरिणामी—अच्छे परिणामोंवाला—शुभोपयोगी कहा गया है।

शुद्धोपयोगी आत्माका स्वरूप—

शुद्धात्मज्ञानदक्षः श्रुतनिपुणमतिर्भावदर्शी पुराऽपि
चारित्रादिप्ररूढो विगतसकलसंक्लेशभावो मुनीन्द्रः।
साक्षाच्छुद्धोपयोगी स इति नियमवाचाऽवधार्येति सम्य-
क्कर्मघ्नोऽयं सुखं स्यान्नयविभजनतो सद्विकल्पोऽविकल्पः॥१८॥

अर्थ—जो भव्यात्मा शुद्धात्माके अनुभव करनेमें दक्ष है—समर्थ अथवा चतुर है, श्रुतज्ञानमें निपुण है, भावदर्शी है—पूर्व-कालीन अपने अच्छे या बुरे भावोंका द्रष्टा है अथवा मर्म-रहस्य-तत्त्वका जानकार है—अर्थात् वस्तुस्वरूपका ज्ञाता है, चारित्रादि-पर आरूढ है, सम्पूर्ण संक्लेशभावसे मुक्त है, ऐसा वह मुनीन्द्र—दिगम्बरमुद्राका धारक निर्ग्रन्थ-साधु—नियमसे साक्षात्—पूर्ण शुद्धोपयोगी—पुण्य-पापपरिणतिसे रहित शुद्ध उपयोगवाला है। यही महान् आत्मा कर्मोंका नाश करता हुआ परमसुखको प्राप्त

करता है। नयभेदसे यह शुद्धोपयोगी आत्मा दो प्रकारका है—१ सविकल्पक और २ अविकल्पक।

भावार्थ—जो महान आत्मा अपने शुद्ध आत्माके ही अनुभवका रसास्वादन करता है, श्रुतनिष्णात है, सब तरहके संक्लेशपरिणामोंसे रहित है, चारित्रादिका पूर्ण आराधक है, पुण्य-पाप परिणतियोंसे विहीन हैं, सदा रत्नत्रयका उपासक है, उभय प्रकारके परिग्रहसे रहित पूर्ण निर्ग्रन्थ साधु है वह शुद्धोपयोगी आत्मा है। यह आत्मा कर्ममुक्त होता हुआ अन्तमें मोक्ष-सुखको पाता है। इसके दो भेद हैं—सविकल्पक और अविकल्पक। सातवें गुणस्थानवर्ती आत्मा 'सविकल्पक' शुद्धोपयोगी हैं और आठवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके आत्मा और सिद्ध परमात्मा 'अविकल्पक' शुद्धोपयोगी हैं।

(२) पुद्गल-द्रव्य-निरूपण

पुद्गलद्रव्यके वर्णनकी प्रतिज्ञा—

द्रव्यं मूर्तिमदाख्यया हि तदिदं स्यात्पुद्गलः सम्मतो
मूर्तिश्चापि रसादिधर्मवपुषो ग्राह्याश्च पंचेन्द्रियैः।
सर्वज्ञागमतः समक्षमिति भो लिङ्गस्य बोधान्मिता-
त्तद्द्रव्यं गुणवृन्द-पर्यय-युतं संक्षेपतो वच्म्यहम् ॥ १६ ॥

अर्थ—निर्विवादरूपसे मूर्तिमान् द्रव्यको 'पुद्गल' माना है—जिस द्रव्यमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं वह निश्चय ही पुद्गल है। और रस आदिरूप गुणशरीरका नाम 'मूर्ति' है। यह मूर्ति पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य है—

अर्थात् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये प्रतिनियत इन्द्रियोंके विषय होते हैं और सर्वज्ञदेवके कहे आगमसे प्रत्यक्ष जाने जाते हैं। साथ ही लिङ्गजन्यज्ञान-अनुमानसे भी ज्ञातव्य हैं। मैं 'राजमल्ल' उस पुद्गलद्रव्यका, जो गुणों और पर्यायोंके समूहरूप है, संक्षेप-से कथन करता हूँ।

भावार्थ—जीवद्रव्यका वर्णन करके अब पुद्गलद्रव्यका कथन किया जाता है। पुद्गल वह है जिसमें रूपादि चार गुण पाये जावें। जैसे आम, लकड़ी आदि। ये चार गुण सभी पुद्गलोंमें पाये जाते हैं। जहाँ रस होता है वहाँ अन्य रूपादि तीन गुण भी विद्यमान रहते हैं। इसी तरह जहाँ रूप या गन्ध अथवा स्पर्श है वहाँ रसादि शेष तीन गुण भी रहते हैं। क्योंकि ये एक दूसरेके अविनाभावी हैं—एक दूसरेके साथ अवश्य ही रहते हैं। कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है, जो रूपादि चार गुणवाला न हो। हाँ, यह हो सकता है कि कोई पुद्गल स्पर्शगुणप्रधान हो, जैसे हवा; कोई गन्धगुणप्रधान हो, जैसे कपूर कस्तूरी आदि तथा कोई रसप्रधान हो जैसे आम्रादिके फल और कोई रूपगुणप्रधान हो, जैसे अन्धकार आदि। तथापि वहाँ शेष गुण भी गौणरूपसे अवश्य होते हैं। उनकी विवक्षा न होने अथवा स्थूलबुद्धिके विषय न होनेसे अप्रतीत-जैसे रहते हैं। उपर्युक्त पुद्गलोंमें कोई पुद्गल प्रत्यक्ष-गम्य हैं; जैसे मेज, कुर्सी, मकान आदि। और कोई पुद्गल अनुमानसे गम्य हैं; जैसे परमाणु आदि। तथा कोई पुद्गल आगमसे जानने योग्य हैं; जैसे पुण्य, पाप आदि कर्मपुद्गल। इस तरह यह पुद्गलद्रव्य अणु और स्कन्धादि अनेक भेदरूप है*।

---

* 'अणवः स्कन्धाश्च'—तत्त्वार्थसूत्र' ५-२५

शुद्ध पुद्गलद्रव्यकी अपने ही प्रदेश, गुण और पर्यायसे सिद्धि—

शुद्धः पुद्गलदेश एकपरमाणुः संज्ञया मूर्तिमां-
स्तद्देशाश्रितरूपगंधरससंस्पर्शादिधर्माश्च ये ।
तद्भावाश्च जगाद पुद्गलमिति द्रव्यं हि चैतत्त्रयं
सर्वं शुद्धमभेद-बुद्धित इदं चान्तातिगं संख्यया ॥२०॥

अर्थ—एक प्रदेशी पुद्गलका एक परमाणु शुद्ध पुद्गलद्रव्य है और वह मूर्तिमानसंज्ञक है। उसके आश्रय रहनेवाले जो रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि धर्म हैं और उनसे होनेवाले जो परिणमन हैं वे सब—तीनों ही (शुद्ध पुद्गलद्रव्य, रूपादि गुण और उनकी पर्यायें) पुद्गल हैं; क्योंकि तीनों ही जगह 'पुद्गल' इस प्रकारकी अभेद-बुद्धि होती है। समस्त शुद्ध पुद्गलद्रव्य संख्याकी अपेक्षा अन्तरहित अर्थात् अनन्त हैं।

भावार्थ—जैसा कि जीवद्रव्यके कथनमें पहले कह आये हैं कि तन्तु और शुक्लता आदि सब ही पट कहे जाते हैं अथवा द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत् माने जाते हैं। सत् द्रव्य है, सत् गुण है और सत् पर्याय है इस तरह सत् तीनोंमें समानरूपसे व्याप्त है। यदि केवल द्रव्य ही अथवा गुण या पर्याय ही सत् हो तो शेष असत् हो जायेंगे। अतः जिस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही सत् हैं उसी प्रकार एक प्रदेशी शुद्ध पुद्गल परमाणु, रूपादिगुण और उनकी पर्यायें ये तीनों भी 'पुद्गल' हैं; क्योंकि इन तीनोंमें ही पुद्गलकी अभेदबुद्धि होती है। और ये परमाणुरूप शुद्ध पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्तप्रमाण हैं।

अशुद्ध पुद्गलद्रव्यके प्रदेशोंका कथन—

रूक्षस्निग्धगुणैः प्रदेशगणसंपिण्डो गुणानां व्रज-
स्तत्राप्यर्थसमुच्चयोऽखिलमिदं द्रव्यं ह्यशुद्धं च तत् ।
पर्यायार्थिकनीतितो हि गणितात्संख्यातदेशी विधिः
संख्यातीतसमं शमाद्भवति वानन्तप्रदेशी त्रिधा ॥२१॥

अर्थ—रूक्ष और स्निग्ध गुणोंसे होनेवाला प्रदेशसमूहरूप पिण्ड और गुणोंका गण तथा उसमें भी जो अर्थ (पर्याय) समुदाय है वह सब ही पर्यायार्थिकनयसे अशुद्ध पुद्गल द्रव्य हैं। इनमें कोई पुद्गल गणनासे संख्यात प्रदेशी, कोई असंख्यात प्रदेशी और कोई अनन्त प्रदेशी हैं। इस तरह प्रदेश-संख्याकी अपेक्षा पुद्गल-द्रव्य तीन प्रकारका है अथवा पुद्गल द्रव्यमें तीन प्रकारके प्रदेश कहे गये हैं।

भावार्थ—पुद्गलद्रव्यका एक परमाणु शुद्धपुद्गलद्रव्य है और परमाणुके सिवाय द्व्यणुक आदि स्कन्ध अशुद्ध पुद्गलद्रव्य हैं। परमाणु एक प्रदेशी है और द्व्यणुक आदि स्कन्ध संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं। कोई स्कन्ध तो संख्यात प्रदेशी है, कोई असंख्यात प्रदेशी और कोई अनन्त प्रदेशी। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य तीन प्रकारके प्रदेशोंवाला है*।

* 'मुत्ते तिविहपदेसा'— द्रव्यसं० २५
'संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।'—तत्त्वार्थ० ५-१०
'चशब्देनानन्ताश्चेत्यनुकृष्यते । कस्यचित्पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादेः संख्येयाः प्रदेशाः, कस्यचिदसंख्येया, अनन्ताश्च । अनन्तानन्तोपसंख्यानमितिचेन्न । अनन्तसामान्यात् । अनन्तप्रमाणं त्रिविधमुक्तं परीतानन्तं युक्तानन्तमनन्तानन्तं चेति । तत्सर्वमनन्तसामान्येन गृह्यते ॥'
—सर्वार्थसिद्धिः ५-१०

पुद्गल परमाणुमें रूपादिके शाश्वतत्वकी सिद्धि—

शुद्धैकाणुसमाश्रितास्त्रिसमये तत्रैव चाणौ स्थिता-
श्चत्वारः किल रूपगंधरससंस्पर्शा ह्यनन्ताङ्गिनः।
मूर्तद्रव्यगुणाश्च पुद्गलमया भेदप्रभेदैस्तु ते
ये नैके परिणामिनोऽपि नियमाद्ध्रौव्यात्मकाः सर्वदा॥२२॥

अर्थ—रूप, गंध, रस और स्पर्श ये चारों—तीनों कालों (भूत, भविष्यद् और वर्तमान)में एक शुद्ध परमाणुके आश्रित हैं और उसमें सदैव विद्यमान रहते हैं तथा चारों ही अनन्त अङ्गों—अविभागी-प्रतिच्छेदों (शक्तिके वे सबसे छोटे टुकड़े, जिनका दूसरा भाग-हिस्सा न होसके)—वाले हैं। मूर्तद्रव्यके गुण हैं, पुद्गलमय हैं—पुद्गलस्वरूप ही हैं। भेद और प्रभेदोंके द्वारा अनेक हैं। और जो नियमसे परिणामात्मक—उत्पाद-व्ययात्मक—होते हुए भी सदा ध्रौव्यात्मक—नित्यस्वरूप हैं—कभी उनका अभाव नहीं होता।

भावार्थ—रूपादि चारों गुण शुद्ध पुद्गल परमाणुनिष्ठ हैं और वे सदा उसमें रहते हैं। ऐसा कोई भी समय नहीं, जब रूपादिचारों उसमें न हों; क्योंकि गुणोंका कभी अभाव नहीं होता—वे अन्वयरूपसे हमेशा मौजूद ही रहते हैं। अतः जिन लोगोंकी यह मान्यता है कि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' अर्थात् 'उत्पत्तिके क्षणमें द्रव्य गुणशून्य रहता है' वह खण्डित होजाती है। यथार्थमें गुणोंमें होनेवाले परिणमनोंका ही अभाव होता है। गुणोंका अभाव किसी भी समय नहीं होता। परमाणुओंके समूहका नाम स्कन्ध है अतः शुद्ध परमाणुमें रूपादिके रहनेका कथन करनेसे स्कन्धमें भी वे कथित होजाते हैं—अर्थात् स्कन्ध भी रूपरसादिके आश्रय हैं यह बात सिद्ध होजाती है।

पुद्गलद्रव्यकी 'अन्वयसंज्ञक' और 'प्रदेशप्रचयज' पर्यायोंका कथन—

पर्यायः परमाणुमात्र इति संशुद्धोऽन्वयाख्यः स हि
रूक्षस्निग्धगुणैः प्रदेशचयजो शुद्धश्च मूर्त्यात्मनः ।
द्रव्यस्येति विभक्तनीतिकथनात्स्याद्भेदतः स त्रिधा
सूक्ष्मान्तर्भिदनेकधा भवति सोऽपीहेति भावात्मकः ॥२३॥

अर्थ—परमाणुमात्र (सभी परमाणु) अन्वयसंज्ञक शुद्धपर्याय हैं और रूक्ष तथा स्निग्ध गुणोंके निमित्तसे होनेवाली स्कन्धरूप मूर्तद्रव्यकी जो व्यवहारनयसे शुद्ध पर्याय है वह प्रदेश-प्रचयज पर्याय है। यह प्रदेश-प्रचयज पर्याय तीन प्रकारकी है—(१) संख्यात-प्रदेश-प्रचयज पर्याय, (२) असंख्यातप्रदेश-प्रचयज पर्याय और (३) अनन्तप्रदेश-प्रचयज पर्याय। इनके भी सूक्ष्म अन्तरङ्ग भेद-से अनेक भेद हैं और ये सब 'भाव' रूप पर्यायें मानी गई हैं।

भावार्थ—पुद्गल-द्रव्यकी दो तरहकी पर्यायें कही गई हैं—(१) अन्वयपर्याय और (२) प्रदेशप्रचयज पर्याय। प्रदेशप्रचयज पर्यायके भी दो भेद हैं—(१) शुद्ध प्रदेश-प्रचयज पर्याय और (२) अशुद्ध प्रदेश-प्रचयज पर्याय। सम्पूर्ण परमाणु तो अन्वय-पर्याय हैं और रूक्ष तथा स्निग्ध गुणोंके निमित्तसे होनेवाली स्कन्धरूप पुद्गलकी प्रदेश-प्रचयजन्य प्रदेशप्रचयज पर्याय है और वह व्यवहानयकी दृष्टिसे शुद्ध है। वस्तुतः वह अशुद्ध ही है। इस शुद्ध प्रदेशप्रचयज पर्यायके भी तीन भेद हैं—(१) संख्यात प्रदेशी, (२) असंख्यात प्रदेशी और (३) अनन्तप्रदेशी। तथा आगे-के चौतीसवें पद्यमें शब्द, बन्ध आदि जो पुद्गलकी पर्यायें कही जावेंगी वे अशुद्ध प्रदेशप्रचयज पर्यायें या अशुद्ध पर्यायें हैं।

पुद्गल-द्रव्यकी अशुद्ध पर्यायोंका प्रतिपादन—

शब्दो बन्धः सूक्ष्मस्थूलौ संस्थानभेदसन्तमसम् ।
छायातपप्रकाशाः पुद्गलवस्तुनोऽशुद्ध*पर्यायाः ॥२४॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अन्धकार, छाया, आतप और प्रकाश ये सब पुद्गल द्रव्यकी अशुद्ध पर्यायें हैं† ।

भावार्थ—भाषावर्गणासे निष्पन्न भाषा और अभाषारूप शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं । एक पुद्गलका दूसरे पुद्गलके साथ अन्योन्यानुप्रवेशरूप बन्ध भी पुद्गलकी पर्याय है । सूक्ष्मता, स्थूलता—छोटापन और बड़ापन—ये भी पुद्गलकी पर्यायें हैं और ये दोनों अन्त्य (निरपेक्ष-स्वाभाविक) तथा आपेक्षिक (परनिमित्तक) इन दो भेदरूप हैं । अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुमें है । आपेक्षिक सूक्ष्मता बेल, आँवला, बेर आदिमें है । इसी प्रकार अन्त्य स्थूलता जगद्व्यापी महास्कन्धमें है और आपेक्षिक-स्थूलता बेर, आँवला, बेल आदिमें है । संस्थान आकारको कहते हैं । वह दो प्रकारका है—(१) इत्थंभूतलक्षण और (२) अनित्थंभूतलक्षण । जिसका 'ऐसा है इस तरहका है' इस प्रकारसे निरूपण किया जा सके वह सब इत्थंभूतलक्षण संस्थान है । जैसे अमुक वस्तु गोल है, त्रिकोण है आदि । और जिसका उक्त

* 'वस्तोरशुद्ध' मुद्रितप्रतौ पाठः ।

† (क) 'शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च'
—तत्त्वार्थसूत्र ५-२४

(ख) 'सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥'—द्रव्यसं० १६

प्रकारसे निरूपण न किया जा सके वह सब अनित्थंभूतलक्षण संस्थान है। जैसे मेघादिकका संस्थान। टुकड़े आदिको भेद कहा गया है। वह छह प्रकारका है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन। लकड़ी आदिको करौंच आदिसे चीरनेपर जो टुकड़े होते हैं वह उत्कर कहलाता है। गेहूँ आदिके चूनको चूर्ण कहते हैं। घड़ा आदिके खप्पर आदि टुकड़ोंको खण्ड कहते हैं। उड़द आदिकी चुनीको चूर्णिका कहते हैं। मेघपटल आदिकी श्रेणी अथवा जुदाईको प्रतर कहते हैं। तपे हुए गोले आदिमेंसे घन आदिकी चोट लगनेपर जो अग्निकण-स्फुलिंग (तिलगा) निकलते हैं वे अणुचटन हैं*। दृष्टिको रोकनेवाले तमको अंधकार कहते हैं। प्रकाशपर आवरण होनेसे छाया होती है†। सूर्य, अग्नि, दीपक आदिके निमित्तसे होनेवाली उष्णताको आतप कहते हैं। चन्द्रमा, मणि, जुगनू आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं। ये सब (शब्दादि) पुद्गलद्रव्यकी अशुद्ध पर्यायें हैं।

---

* 'भेदाः षोढा, उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात्। तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम्। चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादिः। खण्डो घटादीनां कपालशर्करादिः। चूर्णिका माषमुद्गादीनां। प्रतरोऽभ्रपटलादीनां। अणुचटनं संतप्तायःपिण्डादिषु अयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः।' —सर्वार्थसि०,-राजवार्तिक ५-२४

† 'तमो दृष्टिप्रतिबंधकारणं' दृष्टेः प्रतिबंधकं वस्तु तम इति व्यपदिश्यते यदपहरन् प्रदीपः प्रकाशको भवति। छाया प्रकाशावरणनिमित्ता। प्रकाशावरणं शरीरादि यस्या निमित्तं भवति सा छाया।'

—सर्वार्थसिद्धि,-राजवार्तिक ५-२४

पुद्गलद्रव्यके बीस गुण और शुद्ध गुण-पर्यायका कथन—

शुद्धेऽणौ खलु रूपगन्धरससंस्पर्शाश्च ये निश्चिता-
स्तेषां विंशतिधा भिदो हि हरितात्पीतो यथाम्रादिवत् ।
तद्भेदात्परिणामलक्षणबलाद्भेदान्तरे सत्यतो
धर्माणां परिणाम एष गुणपर्यायः स शुद्धः किल ॥२५॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके शुद्ध परमाणुमें, नियमसे जो रूप, गंध, रस और स्पर्श ये चार गुण होते हैं, उनके बीस भेद हैं। रूप पांच (कृष्ण, पीत, नील, रक्त और श्वेत), रस पांच (तिक्त, आम्ल, कषाय, कटु और मधुर), गन्ध दो (सुगन्ध और दुर्गन्ध) स्पर्श आठ (मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष) इस प्रकार ये पुद्गलके कुल बीस गुण हैं। हरेसे पीले हुये आम आदिकी तरह इन बीस गुणोंका—परिणामलक्षण एक भेदसे (अवस्थासे) भेदान्तर—अवस्थान्तर—दूसरी अवस्थाके होनेपर जो यह भेदसे भेदान्तरलक्षण परिणमन होता है वह निश्चयसे शुद्ध गुणपर्यायरूप है—अर्थात् वह शुद्ध गुणपर्याय संज्ञावाला है।

भावार्थ—पुद्गलके दो भेद हैं-(१) परमाणु और (२) स्कन्ध*। उक्त रूपादि चारों गुण इन दोनों ही प्रकारके पुद्गलोंमें हैं। रूपादि चारगुणोंके अवान्तर बीस भेदोंमेंसे परमाणुमें केवल पांच गुण (एकरूप, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श) होते हैं और स्कन्धमें यथा सम्भव सभी गुण होते हैं। यह विशेष है कि हर एक स्कन्धमें वे न्यूनाधिकरूपसे ही पाये जाते हैं। हरे रूपसे पीलारूप होना, मधुर रससे अन्य प्रकारका रस होना आदि उक्त बीस गुणोंकी गुणपर्यायें हैं। यह गुणपर्यायें शुद्ध परमाणुमें तो शुद्ध ही होती हैं और स्कन्धमें अशुद्ध होती हैं।

* 'अणवः स्कन्धाश्च'—तत्त्वार्थसूत्र ५-२५।

शुद्ध पुद्गलपरमाणुमें पाँच ही गुणोंकी संभावना और उन गुणोंकी शक्तियोंमें 'धर्मपर्याय' का कथन—

तत्राणौ परमे स्थिताश्च रसरूपस्पर्शगन्धात्मकाः
एकैकद्वितयैकभेदवपुषः पर्यायरूपाश्च ये ।
पंचैवेति सदा भवन्ति नियमोऽनन्ताश्च तच्छक्तयः
पर्यायः क्षतिवृद्धिरूप इति तासां धर्मसंज्ञोऽमलः ॥२६॥

अर्थ—परमाणुमें सामान्यरूपसे स्थित रूप, रस, स्पर्श और गंध इन चार गुणोंमेंसे एक रूप, एक रस, दो स्पर्श और एक गंध इस तरह पांच ही गुण नियमसे सदा होते हैं। और जो अन्वय पर्यायरूप हैं। इन गुणोंकी भी अविभागी प्रतिच्छेद-रूप अनन्तशक्तियाँ हैं। इन शक्तियोंमें हानि तथा वृद्धिरूप (आगम-प्रमाणसे सिद्ध अगुरुलघुगुणोंके निमित्तसे होनेवाली षड्स्थानपतित हानि और वृद्धिस्वरूप) 'धर्मसंज्ञक' शुद्ध पर्यायें होती हैं।

भावार्थ—एक शुद्ध पुद्गलपरमाणुमें, जैसा कि पहिले पूर्व पद्य-की व्याख्यामें कह आये हैं, उक्त बीस गुणोंमेंसे पांच ही गुण होते हैं—पांच रूपोंमेंसे कोई एक रूप, पाँच रसोंमेंसे कोई एक रस आठ स्पर्शोंमेंसे दो स्पर्श तथा दो गंधोंमेंसे कोई एक गंध। शेषके कोई गुण नहीं होते; क्योंकि परमाणु अवयव रहित है, इसलिये उसमें अनेकरस, अनेकरूप और अनेक गंध संभव नहीं हैं। किन्तु पपीता, मयूर, अनुलेपन आदि सावयव स्कन्धोंमें ही वे देखे जाते हैं। परमाणुमें जो दो स्पर्श होते हैं वे हैं—शीत-रूक्ष अथवा शीत-स्निग्ध, उष्ण-रूक्ष या उष्ण-स्निग्ध। क्योंकि इन दो दो स्पर्शोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। शेषके

हलका, भारी, कोमल, कठोर ये चार स्पर्श परमाणुओंमें नहीं होते, —वे स्कन्धोंमें ही होते हैं*। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे स्वयं ही आदि है, स्वयं ही मध्य है और स्वयं ही अन्तरूप है तथा इन्द्रियोंसे अग्राह्य है और अविभागी है—उसका कोई दूसरा भाग नहीं होसकता†। कारणरूप है, अन्त्य है, सूक्ष्म है और नित्य है‡। इन परमाणुगत उपर्युक्त रूपादिगुणोंमें रहनेवाली अनन्तशक्तियोंमें धर्मसंज्ञक शुद्धपर्यायें होती हैं।

स्कन्धोंके रूपादिकोंमें पौद्गलिकत्वकी सिद्धि और उनकी अशुद्ध पर्याय—

स्कन्धेषु द्व्यणुकादिषु प्रगतसंशुद्धत्वभावेषु च
ये धर्माः किल रूपगंधरससंस्पर्शाश्च तत्तन्मयाः।

---

* (क) 'एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि॥'—पंचास्ति० ८१

(ख) 'एकरसवर्णगंधोऽणुः निरवयवत्वात्॥१२॥ एकरसः एकवर्णः एकगन्धश्च परमाणुर्वेदितव्यः। कुतः? निरवयवत्वात्। सावयवानां हि मातुलिङ्गादीनां अनेकरसत्वं दृश्यते अनेकवर्णत्वं च मयूरादीनां, अनेकगन्धत्वं चानुलेपनादीनां। निरवयवश्चाणुरत एकरसवर्णगंधः। द्विस्पर्शो विरोधाभावात्। कौ पुनः द्वौ स्पर्शौ? शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतरः, स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च। एकप्रदेशत्वात् विरोधिनोः युगपदनवस्थानं। गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शानां परमाणुष्वभावः स्कन्धविषयत्वात्।'—राजवार्तिक पृ० २३६

† 'अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणेहि॥' उद्धृत राजवा.पृ.२३५

‡ 'कारणमेव तदन्त्यः सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगंधवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च॥' उद्धृत राजवा० पृ०२३६

तेषां च स्वभिदो भिदंतरगतनुर्भावश्च तच्छक्तयो
ह्यर्थस्तत्वतिवृद्धिरूप इति चाशुद्धश्च धर्मात्मकः ॥२७॥

अर्थ—शुद्धत्वभावसे रहित—अशुद्ध द्वयणुक आदि स्कन्धोंमें जो रूपादिक गुण हैं, वे पुद्गलमय हैं—पुद्गलस्वरूप ही हैं तथा इनमें भी स्वभेद—अपने भेदोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारका (भिन्नाभिन्न) परिणमन और अविभागप्रतिच्छेदोंके समूहरूप शक्तियाँ होती है। इनमें हानिवृद्धिरूप 'धर्मसंज्ञक' अशुद्ध पर्यायें होती हैं।

भावार्थ—शुद्ध पुद्गलपरमाणुकी तरह अशुद्ध पुद्गल-स्कन्धमें भी रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार गुण अथवा उत्तरभेदोंकी अपेक्षा यथासंभव बीसगुण पाये जाते हैं। और अनेक प्रकारका परिणमन भी होता है। इन गुणोंमें जो शक्तियाँ रहती हैं उनमें 'धर्म' नामकी अशुद्ध पर्यायें होती हैं। विशेष यह कि परमाणुगतरूपादिनिष्ठ शक्तियोंमें तो धर्मनामकी शुद्ध ही पर्यायें होती हैं और स्कन्धगतरूपादिनिष्ठ शक्तियोंमें अशुद्ध धर्मपर्यायें हुआ करती हैं।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्यका लक्षण, उसके भेद, गुण और पर्यायोंका संक्षेपमें वर्णन किया।

(३, ४) धर्म-अधर्मद्रव्य-निरूपण

धर्म और अधर्मद्रव्यके कथनकी प्रतिज्ञा—

लोकाकाशमितप्रदेशवपुषौ धर्मात्मकौ संस्थितौ
नित्यौ देशगणप्रकंपरहितौ सिद्धौ स्वतन्त्राच्च तौ।
धर्माधर्मसमाह्वयाविति तथा शुद्धौ त्रिकाले पृथक्
स्यातां द्वौ गुणिनावथ प्रकथयामि द्रव्यधर्मास्तयोः॥२८॥

अर्थ—धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशी हैं, धर्मात्मक हैं—धर्मपर्यायसे युक्त हैं, संस्थित हैं—अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते हैं, नित्य हैं—ध्रुव हैं, प्रदेशसमूहमें कम्परहित हैं—निष्क्रिय हैं, दोनों ही स्वतन्त्ररूपसे सिद्ध हैं, तीनों कालोंमें शुद्ध हैं—विकार रहित हैं, पृथक् हैं—परस्पर और अन्यद्रव्योंसे भिन्न हैं, दोनों ही गुणीरूप हैं। मैं 'राजमल्ल' उन दोनोंके द्रव्यधर्मों—द्रव्यस्वरूपोंका वर्णन करता हूँ।

भावार्थ—अजीव द्रव्यके पाँच भेद हैं—(१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश, और (५) काल। इनमें पुद्गलद्रव्यका वर्णन इसके पहले ही हो चुका है। अब धर्म और अधर्मका कथन किया जाता है। ये दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाशमें तिलोंमें तैलकी तरह सर्वत्र व्याप्त हैं। नित्य, अवस्थित, अरूपी और निष्क्रिय हैं। अर्थपर्याय (धर्मपर्याय) रूप परिणामनसे युक्त हैं। प्रसिद्ध जो पुण्य और पाप रूप धर्म अधर्म हैं उनसे ये धर्म अधर्म पृथक् (जुदे) हैं, द्रव्यरूप हैं और जीव तथा पुद्गलोंके चलने और ठहरनेमें क्रमशः उदासीनरूपसे—अप्रेरकरूपसे सहायक होते हैं*।

धर्म और अधर्म द्रव्योंकी प्रदेश, गुण और पर्यायोंसे सिद्धि—

शुद्धा देश-गुणाश्च पर्ययगणा एतद्धि सर्वं समम्
द्रव्यं स्यान्नियमादमूर्तममलं धर्मं ह्यधर्मं च तत्।

---

* 'जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥—पंचा० ८७
विजदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥'—पंचा० ८९

तद्देशाः किल लोकमात्रगणिताः पिंडीबभूवुः स्वयं
पर्यायो विमलः स एष गुणिनोऽधर्मस्य धर्मस्य च ॥२६॥

अर्थ—धर्म और अधर्म द्रव्योंके प्रदेश, गुण तथा शुद्ध पर्याय-समूह ये सब समानरूपसे धर्म और अधर्म द्रव्य हैं और दोनों ही अमूर्तिक तथा शुद्ध हैं—विभाव परिणमनसे रहित हैं। प्रत्येकके प्रदेश लोकप्रमाण हैं और पिण्डरूप हैं। यही पिण्डरूप प्रदेश धर्म और अधर्म द्रव्यकी शुद्धपर्यायें हैं।

भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्यमें भाववती शक्ति विद्यमान है। क्रियावती शक्ति नहीं। वह तो केवल जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें ही कही गई*। अतः धर्म और अधर्म द्रव्यमें जो परिणमन होता है वह शुद्ध अर्थपर्यायरूप ही होता है। फलितार्थ यह कि जीव और पुद्गलोंमें क्रियावती शक्तिके निमित्तसे अशुद्ध परिणमन भी होता है पर धर्म, अधर्म द्रव्यमें उसके न होनेसे अशुद्ध परिणमन नहीं होता। केवल शुद्ध ही होता है। इसीलिये इन दोनों द्रव्योंमें पिण्डरूप प्रदेश ही उनकी शुद्ध पर्यायें कही गई हैं। अथवा† अगुरुलघुगुणोंके निमित्तसे होनेवाला उत्पाद और व्यय धर्म, अधर्म द्रव्यकी शुद्ध पर्यायें हैं।

---

* 'भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृता ॥—पंचाध्या० २-२५
तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मकः।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥' पंचाध्या० २-२६

† 'अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥'—पंचास्ति० ८४

धर्मद्रव्यका स्वरूप—

धर्मद्रव्यगुणो हि पुद्गलचितोश्चिद्द्रव्ययोरात्मभा (?)
गच्छद्भाववतोर्निमित्तगतिहेतुत्वं तयोरेव यत् ।
मत्स्यानां हि जलादिवद्भवति चौदास्येन सर्वत्र च
प्रत्येकं सकृदेव शश्वदनयोर्गत्यात्मशक्तावपि ॥३०॥

अर्थ—पुद्गल और चेतनकी गतिरूप अर्थक्रियामें सहायक होना धर्मद्रव्यका गुण है—उपकार है। जो गमन करते हुये जीव और पुद्गलोंके ही गमनमें निमित्तकारणतारूप है*। यद्यपि जीव और पुद्गल प्रत्येक निरन्तर स्वयं गतिशक्तिसे युक्त हैं तथापि इनके(जीव और पुद्गलके) गमनमें यह द्रव्य उसी प्रकार उदासीन-रूपसे कारण होता है, जिसप्रकार कि जल मछलीके चलनेमें उदासीन कारण होता है—अर्थात् मछली चलने लगती है तो जल सहायक होजाता है। अथवा यों कहिये कि मछलीमें चलनेकी शक्ति होते हुये भी वह जलकी सहायतासे ही चलती है और उसके बिना नहीं चल सकती। उसी प्रकार जीव और पुद्गलमें स्वयं गमन करनेकी सामर्थ्य होते हुये भी धर्मद्रव्यकी सहायतासे ही दोनों गमन करते हैं अगर वह न हो तो इनका गमन नहीं हो सकता। यह धर्मद्रव्य उन्हें जबरदस्तीसे नहीं चलाता है, किन्तु

---

* 'गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥' —द्रव्यसं० १७
'उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥' —पंचास्ति० ८५
'ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स ।
हवदि गदी सप्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ॥' —पंचास्ति० ८८

अप्रेरक-उदासीनरूपसे उनके चलनेमें सहायता पहुंचाता है। बुड्ढेको लाठी, रास्तागीरोंको मार्ग, रेलगाड़ीको रेलकी पटरी आदि धर्मद्रव्यके और भी दृष्टान्त जानना चाहिए।

अधर्मद्रव्यका स्वरूप—

तिष्ठद्भाववतोश्च पुद्गलचितोश्चौदास्यभावेन य-
द्धेतुत्वं पथिकस्य मार्गमटतश्छाया यथाऽवस्थितेः।
धर्मोऽधर्मसमाह्वयस्य गतमोहात्मप्रदिष्टः सदा
शुद्धोऽयं शश्वदनयोः स्थित्यात्मशक्तावपि ॥३१॥

अर्थ—ठहरते हुये जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें जो उदासीनभावसे हेतुता है—सहायककारणता है वह अधर्मद्रव्यका धर्म है*—उपकार है, ऐसा गतमोह—जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। जैसे मार्ग चलते हुये पथिक—मुसाफिरके ठहरनेमें वृक्षकी छाया उदासीन भावसे—अप्रेरकरूपसे कारण होती है। यद्यपि गतिशक्तिकी तरह जीव और पुद्गलोंमें स्थितिशक्ति—ठहरनेकी सामर्थ्य भी एक साथ निरन्तर विद्यमान रहती है तथापि उनके ठहरनेमें सहकारी कारण अधर्मद्रव्य ही है।

भावार्थ—जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मद्रव्य एक उदासीन—अप्रेरक कारण है। जब वे ठहरने लगते हैं तो यह द्रव्य उनके ठहरनेमें सहायक होता है। पथिकोंको ठहरनेमें

---

* 'ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई॥' —द्रव्यसं० १८
'जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव॥' —पंचास्ति० ८६

जैसे छाया सहायक होती है। छाया उन्हें जबरदस्तीसे नहीं ठहराती है वे ठहरने लगते हैं तो अप्रेरकरूपसे सहकारी होजाती है। अतः पृथिवी आदि सबकी स्थितिमें साधारण सहायक रूपसे इस द्रव्यका स्वीकार करना आवश्यक है। यदि यह द्रव्य न हो तो गतिशील जीव-पुद्गलोंकी स्थिति नहीं बन सकेगी। यद्यपि गति-की तरह स्थिति भी जीव और पुद्गलोंका ही परिणाम व कार्य है तथापि वे स्थितिके उपादान कारण हैं, निमित्तकारण रूपसे जो कार्यकी उत्पत्तिमें अवश्य अपेक्षित है अधर्म द्रव्यका मानना आवश्यक है। जो धर्मद्रव्यकी तरह लोक अलोककी मर्यादाको भी बांधता है।

धर्म और अधर्म द्रव्योंमें धर्मपर्यायका कथन—

धर्माधर्माख्ययोर्वै परिणमनमदस्तत्त्वयोः स्वात्मनैव
धर्मांशैश्च स्वकीयागुरुलघुगुणतः स्वात्मधर्मेषु शश्वत् ।
सिद्धात्सर्वज्ञवाचः प्रतिसमयमयं पर्ययः स्याद्द्वयोश्च
शुद्धो धर्मात्मसंज्ञः परिणतिमयतोऽनादिवस्तुस्वभावात्॥३२॥

अर्थ—धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंका परिणमन अपने ही रूप होता है—अथवा यों कहिये कि इन दोनों द्रव्योंमें सर्वज्ञ-देवके कहे आगमसे सिद्ध अपने अगुरुलघुगुणों*से अपने ही धर्मांशों—स्वभावपर्यायोंके द्वारा अपने ही आत्मधर्मों—स्व-भावपर्यायोंमें सदा—प्रतिसमय परिणमन होता रहता है और यह परिणमन परिणमनशील अनादि वस्तुका निज स्वभाव होनेसे शुद्ध है तथा धर्मपर्याय संज्ञक है—अर्थात् उस परिणमनकी शुद्ध 'धर्म' पर्याय संज्ञा है।

---

* 'अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं'—पंचास्ति० ८४

भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्योंमें अगुरुलघुगुणोंके निमित्तसे प्रतिसमय उत्पाद और व्यय होता रहता है। यह उत्पाद और व्यय अर्थपर्यायरूप है। और अर्थपर्यायको ही 'धर्म-पर्याय' कहते हैं।

(५) आकाश-द्रव्य-निरूपण

आकाशद्रव्यका वर्णन—

गगनतत्त्वमनन्तमनादिमत्सकलतत्त्वनिवासदमात्मगम्।
द्विविधमाह कथंचिदखंडितं किल तदेकमपीह समन्वयात्॥३३

अर्थ—'आकाश' तत्व अनन्त है—विनाश रहित है, अनादि है—उत्पत्तशून्य है—सदा विद्यमान स्वरूप है, सम्पूर्ण तत्त्वों—द्रव्योंको आश्रय देनेवाला है*, स्वयं अपना आधार है—उसका कोई आधार नहीं है†। अन्वयरूपसे अन्वयाख्य (तिर्यक्)

* 'सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं॥'—पंचास्ति० ९०

† 'आकाशस्य नास्त्यन्य आधारः। स्वप्रतिष्ठमाकाशम्। यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठं, धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाशस्याप्यन्य आधारः कल्प्यः। तथा सत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेन्नैष दोषः। नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति। यत्राकाशं स्थित-मित्युच्यते। सर्वतोऽनन्तं हि तत्' ।—सर्वार्थसि० ५-१२

'आकाशस्यापि अन्याधारकल्पनेति चेन्न स्वप्रतिष्ठत्वात्। स्यान्मतं यथा धर्मादीनां लोकाकाशमाधारस्तथाऽऽकाशस्याप्यन्येनाधारेण भवितव्य-मिति तन्न, किं कारणं? स्वप्रतिष्ठत्वात् स्वस्मिन् प्रतिष्ठाऽस्येति स्वप्रतिष्ठमा

सामान्यकी दृष्टिसे यद्यपि वह एक और अखंड द्रव्य है तथापि कथंचित्—किसी अपेक्षासे—जीवादि पांच द्रव्योंके पाये जाने और न पाये जानेकी अपेक्षासे दो प्रकारका कहा गया है—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश।

भावार्थ—आकाश द्रव्य वह है जो सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश दान देता है। यह द्रव्य अनन्त और अनादि है। एक और अखंड है। उपचारसे उसके दो भेद कहे गये हैं—जितने आकाशक्षेत्रमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांच द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाशक्षेत्रका नाम लोकाकाश है और उसके बाहर सब आकाश अलोकाकाश जानना चाहिये। यही आगेके पद्यमें स्पष्ट किया गया है।

लोकाकाश और अलोकाकाशका स्वरूप—

यावत्स्वाकाशदेशेषु सकलचिदचित्तत्त्वसत्ताऽस्ति नित्या
तावन्तो लोकसंज्ञा जिनवरगदितास्तद्बहिर्ये प्रदेशाः।
सर्वे तेऽलोकसंज्ञा गगनमभिदपि स्वात्मदेशेषु शश्व-
द्भेदार्थोपलम्भाद्द्विविधमपि च तन्नैव बाध्येत हेतोः॥३४॥

अर्थ—जितने आकाश-प्रदेशोंमें सम्पूर्ण चेतन, अचेतन तत्त्वों—द्रव्योंकी सत्ता है—अस्तित्व है, उतने आकाश-प्रदेशोंकी जिनेन्द्रभगवानने 'लोक'—'लोकाकाश' संज्ञा कही है और उसके बाहर जितने आकाश-प्रदेश हैं, उन सबको 'अलोक'—'अलोका-

---

काशं। स्वात्मैवास्याधेय आधारश्चेत्यर्थः। कुतः? ततोऽधिकप्रमाणद्रव्यान्तराभावात्। न हि आकाशादधिकप्रमाणं द्रव्यान्तरमस्ति यत्राकाशमाधेयं स्यात्। ततः सर्वतो विरहितान्तस्याधिकरणान्तरस्याभावात् स्वप्रतिष्ठमवसेयम्।'—राजवार्तिक पृ० २०५

काश' संज्ञा है†। इस तरह आकाश तत्त्व एक अखण्ड होता हुआ भी अपने प्रदेशोंमें सर्वदा भेद उपलब्ध होनेसे दो भेदरूप भी है और ऐसा माननेमें किसी हेतुसे—युक्ति-प्रमाणसे कोई बाधा नहीं आती।

भावार्थ—यद्यपि आकाश एक अखंड द्रव्य है तथापि उसके अपने प्रदेशोंमें आधेय भूत अर्थों (द्रव्यों) के पाये जाने और न पाये जानेरूप भेदके उपलब्ध होनेसे अनेक भी है—अर्थात् उसके दो भी भेद हैं।

आकाशद्रव्यकी अपने प्रदेशों, गुणों, पर्यायोंसे सिद्धि और उसके कार्य तथा धर्मपर्यायका कथन—

अन्तातीतप्रदेशा गगनगुणिन इत्याश्रितास्तत्र धर्मा-
स्तत्पर्यायाश्च तत्त्वं गगनमिति सदाकाशधर्मं विशुद्धम्।
द्रव्याणां चावगाहं वितरति सकृदेतद्धि यत्तु स्वभावा-
द्धर्मांशैः स्वात्मधर्मात्प्रतिपरिणमनं धर्मपर्यायसंज्ञम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—आकाशद्रव्यके अनन्त प्रदेश, गुण और उनसे होने-वाली पर्यायें ये सब ही 'आकाश' हैं। सम्पूर्ण द्रव्योंको एक साथ हमेशा अवकाश दान देना आकाशका धर्म है—उपकार है और यह उसकी विशुद्धपर्याय है। किन्तु स्वभावसे जो अपने आत्म-धर्मसे धर्मांशों—स्वभावपर्यायोंमें प्रतिसमय परिणमन होता है वह उस (आकाशद्रव्य)की धर्मपर्याय है।

---

†(क) 'जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोऽणण्णा।'—पंचास्ति ९१

(ख) 'को लोकः ? धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक इति। अधिकरणसाधनं घञ्। आकाशं द्विधा विभक्तं। लोकाकाशमलोकाकाशं चेति। लोक उक्तः। स यत्र तल्लोकाकाशम्। ततो बहिः सर्वतोऽनन्त-मलोकाकाशम्।'—सर्वार्थसि० ५-१२

भावार्थ—आकाश अनन्तप्रदेशी और अखण्डद्रव्य है। जीवादि पाँच द्रव्योंका आश्रय है। इन द्रव्योंको अवकाश देना उसकी विशुद्ध पर्याय है और अगुरुलघु गुणोंके निमित्तसे जो परिणमन होता है वह उसकी धर्मसंज्ञक पर्याय है।

'आकाश' द्रव्यकी द्रव्यपर्यायका कथन—

गगनानन्तांशानां पिण्डीभावः स्वभावतोऽभेद्यः।
पर्यायो द्रव्यात्मा शुद्धो नभसः समाख्यातः ॥ ३६ ॥

अर्थ—अनन्त आकाश-प्रदेशोंका पिंड, जो स्वभावसे अभेद्य है—जिसके प्रदेश अलग अलग नहीं हो सकते हैं, आकाशद्रव्य-की शुद्ध द्रव्यपर्याय है।

भावार्थ—इससे पूर्व पद्यमें आकाश-द्रव्यकी धर्मपर्याय कही गई है और इस पद्यमें उसकी शुद्ध द्रव्यपर्याय बताई गई है। इस तरह आकाशद्रव्यका वर्णन हुआ।

(६) काल-द्रव्यका निरूपण

कालद्रव्यका स्वरूप और उसके भेद—

कालो* द्रव्यं प्रमाणाद्भवति स समयाणुः किल द्रव्यरूपो
लोकैकैकप्रदेशस्थित इति नियमात्सोऽपि चैकैकमात्रः।
संख्यातीताश्च सर्वे पृथगिति गणिता निश्चयं कालतत्त्वं
भाक्तः कालो हि यः स्यात्समय-घटिका-वासरादिः प्रसिद्धः॥३७॥

अर्थ—'काल' एक स्वतन्त्र द्रव्य है और वह प्रमाणसे सिद्ध है तथा द्रव्यरूप कालाणुओंके नामसे प्रसिद्ध है। और यह द्रव्य-

* 'प्रोक्तं' मुद्रित प्रतिमें पाठ।

रूप कालाणु लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर-स्थित है इसलिये वह भी नियमसे एक एक ही है। इस तरह वे सब कालाणु असंख्यात हैं—लोकाकाशके प्रदेशोंको असंख्यात होनेसे उनपर स्थित कालाणु भी असंख्यात प्रमाण हैं और ये सब एक एक पृथक् द्रव्य हैं। इन सब कालाणुओंको ही निश्चयकाल कहते हैं। तथा प्रसिद्ध जो समय,घड़ी,दिन आदि है उसे भाक्त—व्यवहारकाल कहा गया है।

भावार्थ—जो द्रव्योंके परिणमन करानेमें बाह्य निमित्तकारण है वह काल-द्रव्य है। और यह एक स्वतन्त्र ही द्रव्य है। क्रिया या अन्य द्रव्यरूप नहीं है। वह दो प्रकारका है—(१) निश्चय-काल (२) व्यवहारकाल। लोकाकाशप्रमाण कालाणु निश्चय-काल द्रव्य हैं। ये कालाणू लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर अव-स्थित हैं और रत्नोंकी राशिकी तरह असंबद्ध (तादात्म्य सम्बन्धसे रहित)और पृथक् पृथक् हैं—पिण्डरूप नहीं हैं। यहाँ निश्चयकाल-द्रव्यके सम्बन्धमें उपयोगी शंका-समाधान दिया जाता है :—

शंका—कालाणुरूप ही असंख्यात कालद्रव्य क्यों है ? आकाशके समान वैशेषिकादिदर्शनोंकी तरह सर्वव्यापी एक अख-ण्ड कालद्रव्य क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—नाना क्षेत्रोंमें नाना तरहका परिणमन और ऋतुओंका परिवर्तन इस बातको सिद्ध करता है कि सब जगह काल एक नहीं है—भिन्न भिन्न ही है। अतः कालद्रव्य आकाश-की तरह सर्वव्यापी, अखण्ड, एक द्रव्य न होकर खण्ड, अनेक द्रव्यरूप है।

शंका—उपर्युक्त समाधानसे तो इतनी ही बात सिद्ध होती है कि कालद्रव्य एक नहीं है—अनेक भेदवाला है—बहुसंख्यक है। 'वह असंख्यात है' इस बातकी पुष्टि उससे नहीं होती ?

समाधान—लोकाकाशके प्रदेश असंख्यात हैं और इन्हीं असंख्यात प्रदेशोंपर समस्त द्रव्योंकी स्थिति है अतः इन समस्त द्रव्योंको परिणमन करानेवाला कालद्रव्य भी लोकाकाश-प्रमाण है—लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर अवस्थित कालाणु असंख्यातमात्र हैं, इससे न तो कम हैं और न अधिक। कम यदि माने जायेंगे तो जितने लोकाकाश-प्रदेशोंपर जीवादि द्रव्य होंगे उन्हींके परिणमनमें वे कालाणु कारण हो सकेंगे। बाकी लोकाकाशप्रदेशोंपर कालाणुओंके न होनेसे वहाँ पर स्थित जीवादि-द्रव्योंके परिणमनमें वे कारण नहीं हो सकेंगे। ऐसी हालतमें—परिणमनके बिना उन जीवादि द्रव्योंका अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः कालाणु असंख्यातसे कम नहीं हैं। और अधिक इसलिये नहीं हैं कि असंख्यातप्रदेश-मात्र लोकाकाशमें ही अनन्त जीवों, अनन्त पुद्गलों तथा असंख्यातप्रदेशी धर्म, अधर्म द्रव्योंकी स्थिति है। और असंख्यात लोकाकाश प्रदेशोंपर अवस्थित असंख्यात कालाणु ही उन सब द्रव्योंके परिणमन करानेमें समर्थ हैं। इसलिये अधिक माननेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः कालाणुरूप कालद्रव्य न संख्यात है और न अनन्त। किन्तु असंख्यातप्रमाण ही है।

शंका—यदि कालद्रव्य लोकाकाशप्रमाण ही है—अनन्त नहीं है तो अनन्त अलोकाकाशमें उसके न होनेसे वहाँ परिणमन नहीं हो सकेगा और ऐसी हालतमें—परिणमन बिना अलोकाकाशके अभावका प्रसंग आवेगा ?

समाधान—आकाश-द्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है और अखण्ड द्रव्यका यह स्वभाव होता है कि उसके एक प्रदेशमें परिणमन होनेपर सर्वत्र परिणमन हो जाता है। मोटेरूपमें उदाहरण लें। जैसे एक खम्भेसे दूसरे खम्भे तक बंधे तारके एक भागमें

क्रिया होनेपर दूसरे भागमें भी क्रिया (कंप) होती है। उसी प्रकार लोकाकाशके किसी एक प्रदेशपर स्थित कालाणुके द्वारा लोकाकाशके उस प्रदेशमें परिणमन होनेपर समस्त आकाशके प्रदेशोंमें भी परिणमन हो जाता है; क्योंकि वह अखण्ड द्रव्य है।

शंका—यदि ऐसा है, तो एक कालाणुसे ही सब द्रव्योंमें परिणमन हो जायगा? फिर उन्हें असंख्यात माननेकी भी क्या आवश्यकता?

समाधान—नहीं, अगर सभी द्रव्य अखण्ड ही होते—खण्डद्रव्य न होते तो एक कालाणुके द्वारा ही सब द्रव्योंका परिणमन हो जाता। पर यह बात नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश इन अखण्ड द्रव्योंके अलावा जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य खण्ड द्रव्य हैं। अतः इन खण्ड द्रव्योंको परिणमन करानेके लिये असंख्यात कालाणुओंका मानना परमआवश्यक है।

शंका—यदि खण्ड द्रव्योंको परिणमन करानेके लिये कालाणुओंका असंख्यात मानना आवश्यक है, तो खण्डद्रव्य तो दोनों ही अनन्त अनन्त हैं फिर असंख्यात कालाणुओंसे अनन्तसंख्यक जीवों और अनन्तसंख्यक पुद्गलोंका परिणमन कैसे हो सकेगा? उन्हें भी अनन्त ही मानना चाहिये?

समाधान—नहीं, ऊपर बतला आये हैं कि अनन्त जीव और अनन्त पुद्गल ये दोनों अनन्तराशियां असंख्यातप्रदेशमात्र लोकाकाशमें ही अवस्थित हैं। क्योंकि जीव और पुद्गलोंमें तो सूक्ष्म परिणमन होनेका और लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें भी अनन्तानन्त पुद्गलों और जीवोंको अवगाहन देनेका स्वभाव है। अतः असंख्यातप्रदेशी लोकाकाशमें ही स्थित अनन्त जीवों और अनन्त पुद्गलोंको परिणमन करानेके लिये लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक कालाणुको माननेपर भी

कम से कम और अधिक से अधिक लोकाकाशप्रमाण असंख्यात ही कालाणुओंका मानना आवश्यक एवं सार्थक है।

निश्चयकालद्रव्यका स्वरूप—

द्रव्यं कालाणुमात्रं गुणगणकलितं चाश्रितं शुद्धभावै-
स्तच्छुद्धं कालसंज्ञं कथयति जिनपो निश्चयाद्द्रव्यनीतेः।
द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना तत्र हेतुः
कालस्यायं च धर्मः स्वगुणपरिणतिर्धर्मपर्याय एषः ॥३८॥

अर्थ—गुणोंसे सहित और शुद्ध पर्यायोंसे युक्त कालाणुमात्र द्रव्यको जिनेन्द्रभगवानने द्रव्यार्थिक निश्चयनयसे शुद्ध काल-द्रव्य—अर्थात् निश्चयकाल कहा है। द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परि-णामका नाम वर्तना है। इस वर्तनामें निश्चयकाल कारण होता है—द्रव्योंके अस्तित्वरूप वर्तनमें निश्चयकाल निमित्तकारण होता है। अपने गुणोंमें अपने ही गुणों द्वारा परिणमन करना काल द्रव्यका धर्म है—शुद्ध अर्थक्रिया है और यह उसकी धर्म-पर्याय है।

भावार्थ—निश्चयकालको परमार्थकाल कहते हैं। जैन सिद्धान्तकी यह विशेषता है कि वह द्रव्योंकी पर्याय या क्रिया-रूप व्यवहारकालके अलावा सूक्ष्म अणुरूप असंख्यात कालद्रव्य भी मानता है। और जिनका मानना आवश्यक ही नहीं अनि-वार्य भी है; क्योंकि व्यवहारकाल द्रव्यनिष्ठ पर्याय या क्रियाविशे-षरूपही पड़ता है और जब 'क्रियाविशेष' व्यवहारसे—उपचारसे काल है तो परमार्थकाल जरूर कोई उससे भिन्न होना चाहिए। क्योंकि बिना परमार्थके उपचार प्रवृत्त नहीं होता। यदि वास्तव-में 'काल' इस अखंडपदका वाच्यार्थ परमार्थतः कोई 'काल'

नामका पदार्थ न हो, तो व्यवहारकाल बन ही नहीं सकता है। अतः परमार्थकाल—कालाणुरूप निश्चयकाल अवश्य ही मानने योग्य है। इस परमार्थकालकी अपने ही गुणोंमें अपने ही गुणोंसे परिणमन करना 'धर्मपर्याय' है।

कालद्रव्यकी शुद्ध द्रव्यपर्याय और उसका प्रमाण—

पर्यायो द्रव्यात्मा शुद्धः कालाणुमात्र इति गीतः।
सोऽनेहसोऽणवश्चासंख्याता रत्नराशिरिव च पृथक् ॥३९॥

अर्थ—कालाणुमात्रको कालद्रव्यकी शुद्ध द्रव्यपर्याय कहा गया है। वे कालाणु असंख्यात हैं और रत्नोंकी राशिकी तरह पृथक् पृथक् हैं—अलग अलग हैं*।

भावार्थ—इसका खुलासा पहिले हो चुका है। विशेष यह कि जो रत्नोंकी राशिका दृष्टान्त दिया गया है वह निश्चयकालद्रव्यको स्पष्टतया पृथक् पृथक् सिद्ध करनेके लिये दिया गया है।

व्यवहारकालका लक्षण—

पर्यायः किल जीवपुद्गलभवो यो शुद्धशुद्धाह्वय-
स्तस्यैतच्चलनात्मकं च गदितं कर्म क्रिया तन्मता।
तस्याः स्याच्च परत्वमेतदपरत्वं मानमेवाखिलं
तस्मान्मानविशेषतो हि समयादिर्भाक्तकालः स यः॥४०॥

अर्थ—जीव और पुद्गलसे होनेवाले शुद्ध और अशुद्ध परिणमनोंको पर्याय-परिणाम कहते हैं। इन पर्यायोंमें जो चलनरूप कर्म होता है वह क्रिया है। क्रियासे परत्व-ज्येष्ठत्व और अपरत्व-

* 'लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥'—द्रव्यसं० २२

कनिष्ठत्वका व्यवहार होता है। ये सब व्यवहारकालके मान—ज्ञापक लक्षण हैं—इन परिणामादिके द्वारा ही समय, घड़ी आदि व्यवहारकालकी प्रतीति होती है।

भावार्थ—परिणमन, क्रिया, परत्व और अपरत्व (कालकृत) ये सब व्यवहारकालके उपकार हैं। इनसे व्यवहारकाल जाना जाता है। सागर, पल्य, वर्ष, महिना, अयन, ऋतु, दिन, घड़ी, घंटा, मुहूर्त आदि सब व्यवहारकाल हैं। यह व्यवहार-काल सूक्ष्म निश्चयकालपूर्वक होता है—निश्चयकालकी सिद्धि इसी व्यवहारकालसे होती है। भूत, वर्तमान और भविष्यद् ये तीन भेद भी व्यवहार कालके ही हैं। क्योंकि द्रव्योंकी भूतादि क्रिया या पर्यायोंकी अपेक्षासे ये भेद होते हैं। और इसीलिये अन्यसे परिच्छिन्न तथा अन्यके परिच्छेदमें कारणभूत क्रियाविशेषको 'काल' व्यवहृत किया गया है*।

व्यवहारकालको निश्चयकालकी पर्याय कहनेका एक-देशीयमत—

एनं व्यवहृतिकालं निश्चयकालस्य गान्ति पर्यायम्।
वृद्धाः कथंचिदिति तद्विचारणीयं यथोक्तनयवादैः ॥४१॥

अर्थ—कोई पुरातनाचार्य इस व्यवहारकालको निश्चयकाल-की पर्याय कहते हैं। उनका यह कथन नय-कुशल विद्वानोंको 'कथंचित्' दृष्टिसे—किसी एक अपेक्षासे समझना चाहिये।

---

* 'परिणामादिलक्षणो व्यवहारकालः। अन्येन परिच्छिन्नोऽन्यस्य परिच्छेदहेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यवह्रियते। स त्रिधा व्यवतिष्ठते भूतो, वर्तमानो, भविष्यन्निति। तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः। भूतादिव्यपदेशो गौणः। व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः। कालव्यव-देशो गौणः। क्रियावद्द्रव्यापेक्षत्वात् कालकृतत्वाच्च।'—सर्वार्थसिद्धि ५–२२

भावार्थ—जो पुरातनाचार्य व्यवहारकालको निश्चयकालकी पर्याय कहते हैं, वे अशुद्ध पर्यायकी दृष्टिसे ऐसा प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि निश्चयकालके आश्रित ही समय, घड़ी, दिन आदि व्यवहार-काल होता है। यदि निश्चयकाल न हो तो व्यवहारकाल नहीं हो सकता। अतः इस व्यहारकालको निश्चयकालकी अशुद्ध पर्याय माननेमें कोई हानि नहीं है और न कोई विरोध है। पहले जो कालाणुमात्रको निश्चयकालकी पर्याय कहा है, वह शुद्धपर्यायकी दृष्टिसे कहा है—अर्थात् व्यवहारकाल तो निश्चयकालकी अशुद्ध पर्याय है और कालाणुमात्र शुद्ध पर्याय है।

कालद्रव्यको अस्तिकाय न होने और शेष द्रव्योंको अस्तिकाय होनेका कथन—

अस्तित्वं स्याच्च षण्णामपि खलु गुणिनां विद्यमानस्वभावात् ।
पंचानां देशपिण्डात्समयविरहितानां हि कायत्वमेव ॥
सूक्ष्माणोश्चोपचारात्प्रचयविरहितस्यापि हेतुत्वसत्वात्
कायत्वं न प्रदेशप्रचयविरहितत्वाद्धि कालस्य शश्वत् ॥४२॥

इति श्रीमदध्यात्म-कमल-मार्तण्डाभिधाने शास्त्रे द्रव्यविशेष-प्रज्ञापकस्तृतीयः परिच्छेदः।

अर्थ—विद्यमानस्वभाव होनेसे छहों द्रव्य 'अस्ति' हैं—अस्तित्ववान हैं। और कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्य बहु-प्रदेशी होनेसे कायवान् हैं—इस तरह 'अस्ति' स्वरूप तो छहों द्रव्य हैं, किन्तु अस्ति और काय दोनों—अर्थात् अस्तिकाय केवल पाँच ही द्रव्य हैं*। कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है†। क्योंकि वह

* 'संति जदो तणेदे अत्थि त्ति भणंति जिणवरा जम्हा ।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥'—द्रव्यसं० २४

† 'कालस्सेगो ण तेण सो काओ'—द्रव्यसं० २५

एक ही प्रदेशी हैं—बहु प्रदेशी नहीं है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्गल परमाणु भी स्कन्धसे पृथकत्व अवस्थामें प्रदेशप्रचयसे रहित है—बहुप्रदेशी नहीं है—एक ही प्रदेशी है और इसलिये वह भी कायवान नहीं हो सकता तथापि उसमें (परमाणुमें) स्कन्धरूप परिणत होनेकी शक्ति विद्यमान है। अतः प्रदेशप्रचयसे रहित—एक प्रदेशी भी पुद्गल परमाणुको उपचारसे कायवान कहा है। पर कालद्रव्य सदैव प्रदेशप्रचय—बहुप्रदेशोंसे रहित है—एक प्रदेशमात्र है—इसलिये वह कायवान नहीं कहा गया।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी और अस्तित्ववान् हैं इसलिये ये पाँच द्रव्य तो 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं। किन्तु कालद्रव्य अस्तित्ववान् होते हुये भी एकप्रदेशीमात्र होनेके कारण (बहुप्रदेशी न होनेसे) कायवान् नहीं है और इसलिये उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। यद्यपि परमाणु भी एक-प्रदेशी है—बहुप्रदेशी नहीं है तथापि परमाणु अपनी परमाणु अवस्थाके पहिले स्कन्धरूप होने तथा आगे भी स्कन्धरूप परिणत हो सकनेके कारण उपचारसे बहुप्रदेशी माना गया है*। परन्तु कालाणुओंमें कभी भी अविष्वक्भाव (तादात्म्य) सम्बन्ध न हो सकनेसे उनमें एकात्मकपरिणति न तो पहले हुई और न आगे होनेकी सम्भावना है; क्योंकि वे (कालाणु) एक एक करके सदैव जुदे जुदे ही लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिकी तरह अवस्थित हैं। अतः काल-द्रव्य भूत-

* 'एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू॥'—द्रव्यसं० २६

प्रज्ञापन-नय और भावि-प्रज्ञापन-नय इन दोनों प्रकारसे—अर्थात् उपचारसे भी अस्तिकाय नहीं है†।

इस प्रकार श्रीअध्यात्मकमलमार्तण्ड नामक अध्यात्मग्रन्थमें द्रव्यविशेषोंका वर्णन करनेवाला तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।

चतुर्थ परिच्छेद

जीवके वैभाविक भावोंका सामान्यस्वरूप और उनका भावाश्रव तथा भावबंधरूप होनेका निर्देश—

भावा वैभाविका ये परसमयरताः कर्मजाः प्राणभाजः
सर्वाङ्गीणाश्च सर्वे युगपदिति सदावर्तिनो लोकमात्राः।
ये लक्ष्याश्चैहिकास्ते स्वयमनुमिततोऽन्येन चानैहिकास्ते
प्रत्यक्षज्ञानगम्याः समुदित इति भावस्रवो भावबन्धः॥ १॥

अर्थ—प्राणियोंके परद्रव्यमें अपनेपनके अनुरागसे जो कर्म-जन्य भाव होते हैं वे वैभाविकभाव—विभाव-परिणाम हैं। और ये सब एक साथ आत्माके समस्त प्रदेशोंमें मिले हुये रहते हैं। सदा विद्यमान स्वभाव हैं—संसार अवस्था पर्यन्त हमेशा ही बने रहने वाले हैं। लोक-प्रमाण हैं—लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर (असंख्यात) हैं। इन वैभाविकभावोंमें जो ऐहिक—इसपर्याय जन्य

---

† 'अणोरप्येकदेशस्य पूर्वोत्तरप्रज्ञापननयापेक्षयोपचारकल्पनया प्रदेश प्रचय उक्तः। कालस्य पुनर्द्वेधाऽपि प्रदेशप्रचयकल्पना नास्ति इत्यकायत्वम्।' —सर्वार्थसिद्धि ५-३९

भाव हैं, वे अपने द्वारा तो अनुभवसे प्रतीत हैं और दूसरोंके द्वारा अनुमानगम्य हैं—अनुमानसे जानने योग्य हैं और जो अनैहिक—इसपर्यायजन्य नहीं हैं—पूर्वपर्यायजन्य हैं वे सर्वज्ञके प्रत्यक्षज्ञानसे जाने जाते हैं। ये सभी वैभाविक भाव भावाश्रव और भावबन्ध दोनोंरूप हैं।

भावार्थ—इस पद्यमें जीवोंके वैभाविक भावोंका निर्देश किया गया है और बताया गया है कि परपदार्थमें जो स्वात्मबुद्धिपूर्वक कर्मज भाव पैदा होते हैं वे वैभाविक भाव हैं। और ये सब आत्मामें सर्वाङ्गीण होते हैं। वैसे तो वे असंख्यात हैं, पर ऐहिकभाव और अनैहिकभावके भेदसे दो तरहके हैं। और भावाश्रव तथा भावबन्धरूप हैं।

वैभाविकभावोंके भेद और उनका स्वरूप—

एतेषां स्युश्चतस्रः श्रुतमुनिकथिता जातयोऽतत्त्वश्रद्धा*
मिथ्यात्वं लक्षितं तद्द्व्यविरतिरपि सा यो ह्यचारित्रभावः।
कालुष्यं स्यात्कषायः समलपरिणतौ द्वौ च चारित्रमोहः(हौ)
योगः स्यादात्मदेशप्रचयचलनता वाङ्मनःकायमार्गैः ॥२॥

अर्थ—आस्रवत्रिभंगीकार आचार्य श्रुतमुनिने इन भावोंकी चार जातियाँ—भेद कहे हैं‡—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय और (४) योग। इनमें अतत्त्वश्रद्धान—विपरीतश्रद्धानका नाम मिथ्यात्व है†। अचारित्रभाव—चारित्रका धारण नहीं

* 'मत्यं तावन्' मुद्रितप्रतौ पाठः।

‡ 'मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति।'—आस्रवत्रिभं० २

† मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं।'—आस्रवत्रिभं० ३

एकस्यापीह वन्हेर्दहनपचनभावात्मशक्तिद्वयाद्वै‡
वह्निः स्याद्दाहकश्च स्वगुणगणबलात्पाचकश्चेति सिद्धेः ॥३॥

शंका—वे मिथ्यात्व आदि चार प्रत्यय—वैभाविकभाव भावस्रव और भावबंध इन दोनोंरूप किस प्रकार सम्भव हैं ? क्योंकि वे भाव वास्तवमें एक ही हैं—एक ही प्रकारके हैं—भावास्रव या भावन्ध दोनोंमेंसे कोई एक ही प्रकारके हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है; दो शक्तियोंकी अपेक्षा भावास्रव और भावबन्ध ऐसे दो भेद हैं। एक ही अग्नि दहन और पचनरूप अपनी दो शक्तियोंकी अपेक्षासे जिस प्रकार दाहक भी है और पाचक भी। उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि चारों भाव अपनी भिन्न दो शक्तियोंकी अपेक्षा भावास्रवरूप भी हैं और भावबंधरूप भी हैं।

भावार्थ—यहाँ यह शंका की गई है कि पूर्वोक्त मिथ्यात्व आदि चारों भाव भावास्रव और भावबन्ध दोनों प्रकारके संभव नहीं हैं, उन्हें या तो भावास्रव ही कहना चाहिये या भावबन्ध ही। दोनोंरूप मानना संगत एवं अविरुद्ध प्रतीत नहीं होता। इस शंकाका उत्तर यह दिया गया है कि जिस प्रकार एक ही अग्नि अपनी दहन और पचनरूप दो शक्तियोंसे दाहक भी है और पाचक भी है उसी प्रकार उक्त वैभाविकभावोंमें विभिन्न दो शक्तियोंके रहनेसे वे भावास्रव भी हैं और भावबन्ध भी हैं, ऐसा माननेमें कुछ भी असंगति या विरोध नहीं है।

---

‡ 'शक्तिद्वयाद्वै' मुद्रितप्रतौ पाठः।

उक्त विषयका स्पष्टीकरण—

मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवास्रवे हेतवः स्युः
पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित् ।
नव्यानां कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्या-
दायत्यां स्यात्स बन्धः स्थितिमिति लयपर्यन्तमेषोऽनयोर्भित्॥४

अर्थ—मिथ्यात्व आदि वैभाविकभाव प्रथम समयमें ही आस्रवमें कारण होते हैं, पीछे—दूसरे समयमें कर्मबन्ध होता है। आगे तो प्रत्येक समयमें कथंचित् वे दोनों ही होते हैं। जिस समय नवीन कर्मोंका आगमन होता है उस समय तो वह आस्रव है और आगेकी नाशपर्यन्त स्थिति-सत्ताका नाम बन्ध है। यही इन दोनोंमें भेद है।

भावार्थ—उक्त वैभाविकभाव भावास्रव और भावबंध किस प्रकार हैं, इस बातका इस पद्यके द्वारा खुलासा किया गया है और कहा गया है कि मिथ्यात्व आदि पहिले समयमें तो आस्रवके कारण हैं और दूसरे समयमें कर्मबंध कराते हैं। इसके आगे तो प्रति समय वे दोनों ही होते हैं। तत्कालीन नवीन कर्मोंका आगमन आस्रव है और उनका नाश पर्यन्त बने रहना बन्ध है इस तरह उपर्युक्त वैभाविकभावोंमें भावास्रव और भावबंध दोनों बन जाते हैं।

पुनः उदाहरणपूर्वक स्पष्टीकरण—

वस्त्रादौ स्नेहभावो न परमिह रजोभ्यागमस्यैव हेतु-
र्यावत्स्याद्धूलिबन्धः स्थितिरपि खलु तावच्च हेतुः स एव ।
सर्वेऽप्येवं कषाया न परमिह निदानानि कर्मागमस्य
बन्धस्यापीह कर्मस्थितिमतिरिति यावन्निदानानि भावात्॥५॥

अर्थ—कपड़े आदिमें, जो स्नेहभाव—तैल आदिका सम्बन्ध होता है वह ही धूलिके आगमन—आनेका कारण होता है—कपड़ेपर धूलिके चिपकनेमें हेतु होता है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। और जबतक धूली चिपकी हुई रहती है तबतक स्थिति भी उसकी बनी रहती है और तभी तक वह कारण भी मौजूद रहता है। इसी तरह सभी कषायें कर्मास्रवकी कारण हैं और दूसरा कोई नहीं और जब तक यह कर्मबंध है तभी तक कर्म-स्थिति—कर्मकी मौजूदगी और कर्मस्थितिकी निदानभूत कषायें आत्मामें बनी रहती हैं।

भावार्थ—यों तो कर्मबंधका कारण योग भी है, परन्तु अत्यन्त दुःखदायक स्थिति और अनुभागरूप कर्मबंधका कारण कषाय ही है*। जब तक यह कषाय आत्मामें मौजूद रहती है तबतक कर्मस्थिति भी बनी रहती है और नये नये कर्मबंध होते रहते हैं। कपड़ेपर जबतक जितनी और जैसी चिकणता होगी—तैल आदि चिकने पदार्थका सम्बन्ध होगा तबतक उतनी ही धूलि उस कपड़ेपर चिपकती रहेगी। अतः कर्मबंधका मुख्य कारण कषाय ही है और इसीलिये 'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव' कषायकी मुक्तिको मुक्ति कहा गया है। अतएव मुमुक्षुजन सर्व-प्रथम रागद्वेषरूप कषायको ही मन्द करने और छोड़नेका प्रयत्न करते हैं।

कर्मबंधव्यवस्था तथा द्रव्यास्रव और द्रव्यबंधका लक्षण—

सिद्धाः कार्मणवर्गणाः स्वयमिमा रागादिभावैः किल
ता ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामं यान्ति जीवस्य हि।

---

* 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।'
—तत्त्वार्थसू० ८-२

सर्वाङ्गं प्रति सूक्ष्मकालमनिशं तुल्यप्रदेशस्थिताः
स्याद्द्रव्यास्रव एष एकसमये बन्धश्चतुर्धाऽन्वयः ॥ ६ ॥

अर्थ—कार्मणवर्गणाएँ—एक तरहकी पुद्गलवर्गणाएँ, जिनमें कर्मरूप होकर जीवके साथ बंधनेकी शक्ति विद्यमान होती है और जो समस्त लोकमें व्याप्त हैं—जीवके रागादिभावोंके द्वारा ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मरूप परिणमनको प्राप्त होती हैं—आत्माके राग, द्वेष आदि भावोंसे खिंचकर ज्ञानावरण आदिकर्मोंके रूपमें आत्माके साथ बंधको प्राप्त होती हैं। तथा सर्वाङ्गों—सम्पूर्ण शरीरप्रदेशोंसे आत्मामें प्रतिसमय आती रहती हैं और आत्माके समस्त प्रदेशोंमें स्थित हैं। सर्वज्ञदेवके प्रत्यक्षज्ञानसे और आगमसे सिद्ध हैं। इन कार्मणवर्गणाओंका आत्मामें आना द्रव्यास्रव और आत्मप्रदेशोंके साथ कर्मप्रदेशोंका अनुप्रवेश-एकमेक होजाना द्रव्यबंध है और वह द्रव्यबंध चार प्रकारका है।

भावार्थ—पुद्गलद्रव्यकी तेईस वर्गणाओंमें आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पाँच वर्गणायें ही ऐसी हैं जिनका जीवके साथ बंध होता है। इनमें कार्मणवर्गणाके स्कन्ध रागादिभावोंके द्वारा ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमते हैं और जीवके साथ बंधको प्राप्त होते हैं। तथा समयपर अपना फल देते हैं। अथवा तपश्चर्या आदिके द्वारा किन्हीं जीवोंके वे कर्मफल देनेके पहिले ही झड़ जाते हैं। इन कार्मणवर्गणाओंका कर्मरूप परिणत होकर आत्मामें आना द्रव्यास्रव है और उनका आत्माके प्रदेशोंके साथ परस्पर अनुप्रवेशात्मक सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है।

द्रव्यबन्धके भेद और उनके कारण—

प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशभेदाच्चतुर्विधो बन्धः ।
प्रकृति-प्रदेशबन्धौ योगात्स्यातां कषायतश्चान्यौ ॥७॥

अर्थ—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ये चार द्रव्यबन्धके भेद हैं। इनमें प्रकृति और प्रदेशबन्ध तो योगसे होते हैं और अन्य—स्थिति तथा अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरण आदि कर्म-प्रकृतियोंमें ज्ञान, दर्शन आदिके घातक स्वभावके पड़नेको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। यह प्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है :—(१) मूलप्रकृतिबन्ध और (२)उत्तरप्रकृतिबन्ध। मूलप्रकृतिबन्धके आठ भेद हैं—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय। जो आत्माके ज्ञानगुणको ढांके—उसे न होने दे उसको ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। जो दर्शनगुणको घाते, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं। जिस कर्मके उदयसे सुखदुःख देनेवाली इष्टानिष्ट सामग्री प्राप्त हो वह वेदनीयकर्म, जिस कर्मके उदयसे परवस्तुओंको अपना समझे वह मोहनीय, जिसके उदयसे यह जीव मनुष्य आदि पर्यायमें स्थिर रहे वह आयु, जिसके उदयसे शरीर आदि प्राप्त करे वह नाम-कर्म, जिसके उदयसे यह जीव ऊँच, नीच कहलाये वह गोत्र और जिसके उदयसे दान, लाभ आदिमें विघ्न हो वह अन्तरायकर्म है। उत्तर प्रकृतिबन्धके १४८ भेद हैं—ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ९३, गोत्र २ और अन्तराय ५। परिणामोंकी अपेक्षा कर्म-प्रकृतियोंके असंख्य भी भेद हैं। स्थिति—कालकी मर्यादाके पड़नेको

स्थितिबन्ध कहते हैं, इसके भी अनेक भेद हैं। फलदानशक्तिके पड़नेको अनुभागबन्ध कहते हैं। तथा कर्मप्रदेशोंकी संख्याका नाम प्रदेशबन्ध है। यह प्रदेशबन्ध आत्माके सर्व प्रदेशोंमें एकक्षेत्रावगाहरूपसे स्थित है और अनन्तानन्त प्रमाण है। इन चार प्रकारके बन्धोंमें प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगोंसे और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध कषायोंसे होते हैं।

योग और कषायके एक साथ होनेका नियम—

युगपद्योगकषायौ पटचिक्कणकम्पवञ्चितः* स्याताम्।
बन्धोऽपि चतुर्धा स्याद्धेतुप्रतिनियतशक्तितो भेदः ॥८॥

अर्थ—योग और कषाय आत्मामें उसी प्रकार एक साथ होते हैं जिस तरह चिक्कण और सकंप कपड़ेमें चिक्कणता और सकंपता एक साथ होती है ? यह चार प्रकारका बन्ध भी अपने कारणोंकी प्रतिनियत—भिन्न भिन्न शक्तिकी अपेक्षा भेदवान् है—अवान्तर अनेक भेदों और प्रभेदोंवाला है।

भावार्थ—योग और कषाय ये दोनों आत्मामें एक साथ रहते हैं। ज्योंही मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें क्रिया हुई त्यों ही कर्मस्कन्ध खिंचे और खिंचकर आत्माके पास आते ही कषाय उन्हें आत्माके प्रत्येक प्रदेशके साथ चिपका देती है। जिस प्रकार कि चिक्कण और सकंप कपड़ेपर धूलि आकर चिपक जाती है। उक्त चार प्रकारका बन्ध इन दोनोंसे हुआ करता है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धमें योगकी प्रधानता रहती है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्धमें कषायकी। यह चार प्रकारका बन्ध और कितने ही भेदोंवाला है। इन

---

† 'चिक्कणपटकम्पवंचितः' मुद्रितप्रतौ पाटः।

भेदोंको कर्मविषयक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। कुछ भेदोंको संक्षेप-में पूर्वपक्षकी व्याख्यामें भी बतला आये हैं।

भावसंवर और भावनिर्जराका स्वरूप—

त्यागो भावास्रवाणां जिनवरगदितः संवरो भावसंज्ञो
भेदज्ञानाच्च स स्यात्स्वसमयवपुषस्तारतम्यः कथंचित्।
सा शुद्धात्मोपलब्धिः‡ स्वसमयवपुषो× निर्जरा भावसंज्ञा
नाम्ना भेदोऽनयोः स्यात्करणविगमतः† कार्यनाशप्रसिद्धेः॥६॥

अर्थ—भावास्रवके रुक जानेको जिनेन्द्रदेवने भावसंवर कहा है*। यह भावसंवर आत्मा तथा शरीरके भेदज्ञान—'आत्मा अलग है शरीर अलग है'—इस प्रकारके ज्ञानसे तारतम्य-कमती-बढ़तीरूपमें होता है। अपने आत्मा और शरीरका भेदज्ञान होनेसे जो शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है वह भावनिर्जरा है÷। इन दोनों (भावसंवर और भावनिर्जरा)में यही अन्तर है। 'कारणके नाशसे कार्यका नाश होता है' यह प्रसिद्ध ही है अतः संचित और आगमी दोनों ही संसारके कारणभूत कर्मोंके अभाव

‡ 'शुद्धात्मोपलब्धे' मुद्रितप्रतौ पाठः।

× 'वपुषा' मुद्रितप्रतौ पाठः।

† 'विगतः' मुद्रितप्रतौ पाठः।

* येनांशेन कषायाणां निग्रहः स्यात्सुदृष्टिनाम।
तेनांशेन प्रयुज्येत संवरो भावसंज्ञकः॥
—जम्बूस्वामिचरित १३-१२३

÷ आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत्पुराकृतम्।
वेगाद्भुक्तरसं कर्म सा भवेद्भावनिर्जरा॥
—जम्बूस्वामिचरित १३-१२७

हो जानेपर संसाररूप कार्यका भी अभाव अवश्य हो जाता है—अर्थात् आत्माको अपने शुद्धस्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है और इसी उपलब्धिका नाम भावनिर्जरा है।

भावार्थ—नये राग-द्वेष आदि भावकर्मोंका रुक जाना भाव-संवर है। जैसा कि आ० उमास्वामिका वचन है—'आस्रवनिरोधः संवरः' (तत्त्वार्थसूत्र ६-१)—अर्थात् आस्रवके बन्द हो जानेको संवर कहते हैं। इसके होनेपर फिर नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता और इस तरह आत्मा लघुकर्मा हो जाता है। भावसंवरको प्राप्त करनेका उपाय यह है कि शरीर और शरीरसे सम्बन्धित स्त्री, पुत्र आदि पर-पदार्थोंमें आत्मत्वकी बुद्धिका त्याग करे—बहि-रात्मापनेकी मिथ्याबुद्धिको छोड़े और आत्मा तथा आत्मीय भावों (उत्तमक्षमादिकों) में ही आत्मपनेकी बुद्धि करे—अन्तरात्मापने-की सम्यक्‌दृष्टिको अपनावे। इस प्रकार फिर नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होगा। यही वजह है कि सम्यग्दृष्टिकी क्रियायें संवर और निर्जराकी ही कारण होती हैं और मिथ्यादृष्टिकी क्रियायें बन्ध और आस्रवकी†।

संचित कर्मोंके अभाव हो जानेपर शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (अनुभव) होना भावनिर्जरा है। आत्माके इस शुद्ध स्वरूपके आच्छादक नवीन और संचित दोनों ही प्रकारके कर्म हैं। संवर-के द्वारा तो नवीन कर्मोंका निरोध होता है और निर्जराके द्वारा संचित कर्म नष्ट होते हैं। इस प्रकार शुद्धस्वरूपके आवरणोंके

---

† 'ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥'
—नाटकसमयसा० कर्त्तकर्माधि० श्लोक २२

हट जानेपर नियमसे उसका अनुभव होता है और इस शुद्धस्वरूपकी अनुभूतिका ही नाम भावनिर्जरा है।

एक शुद्धभावके भावसंवर और भावनिर्जरा दोनोंरूप होनेमें शंका-समाधान—

एकः शुद्धो हि भावो ननु कथमिति जीवस्य शुद्धात्मबोधा-
द्भावाख्यः संवरः स्यात्स इति खलु तथा निर्जरा भावसंज्ञा।
भावस्यैकत्वतस्ते मतिरिति यदि तन्नैव शक्तिद्वयात्स्या-*
त्पूर्वोपात्तं हि कर्म स्वयमिह विगलेन्नैव‡ बध्येत नव्यम् ॥१०॥

शंका—शुद्धभाव एक है, वह जीवके शुद्धात्माके ज्ञानसे होनेवाले भावसंवर और भावनिर्जरा इन दो रूप कैसे है? अर्थात् एक शुद्ध भावके भाव-संवर और भाव-निर्जरा ये दो भेद नहीं हो सकते हैं?

समाधान—ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि उस एक शुद्धभावमें दो शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। इन दो शक्तियोंके द्वारा शुद्धभावसे भावसंवर और भावनिर्जरा ये दो कार्य निष्पन्न होते हैं। एक शक्तिके द्वारा पहले बंधे हुए कर्म झड़ते हैं और दूसरी शक्तिसे नवीन कर्मोंका आस्रव रुकता है। इस तरह दो शक्तियों-की अपेक्षा एक शुद्धभावसे दो प्रकारके कार्यों (भावसंवर और भाव-निर्जरा)के होनेमें कोई बाधा नहीं है।

भावार्थ—दृष्टान्त द्वारा अगले पद्यमें ग्रन्थकार स्वयं ही इस बातको स्पष्ट करते हैं कि एक शुद्धभावके भावसंवर और भाव-निर्जरा ये दो कार्य बन सकते हैं।

---

* 'शक्तिर्द्वयोः स्यात्' मुद्रितप्रतौ पाठः।

‡ 'विगलेतैव' मुद्रितप्रतौ पाठः।

दृष्टान्तद्वारा उक्त कथनका स्पष्टीकरण—

स्नेहाभ्यङ्गाभावे गलति रजः पूर्वबद्धमिह नूनम् ।
नाऽप्यागच्छति नव्यं यथा तथा शुद्धभावतस्तौ द्वौ ॥११॥

अर्थ—स्नेह—घी, तैल आदि चिकने पदार्थोंके लेपका अभाव होनेपर जिस प्रकार पहलेकी चिपकी हुई धूलि निश्चयसे झड़ जाती है—दूर हो जाती है और नवीन धूलि चिपकती नहीं है, उसी तरह शुद्ध-भावसे संचित कर्मोंका नाश और नवीन कर्मोंका निरोध होता है। इस प्रकार शुद्ध-भावसे संवर और निर्जरा दोनों होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार घी, तैल आदि चिकने पदार्थोंका लेप करना छोड़ देनेपर पहलेकी लगी हुई धूलि दूर हो जाती है और नई धूलि लगती नहीं है, उसी तरह आत्माके व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुपेक्षा, परीषहजय और तप इन शुद्ध भावोंसे संवर—नये कर्मोंका न आना और निर्जरा—संचित कर्मोंका छूट जाना ये दोनों कार्य होते हैं, इसमें बाधादि कोई दोष नहीं है।

द्रव्यसंवरका स्वरूप—

चिदचिद्द्वेदज्ञानान्निर्विकल्पात्समाधितश्चापि ।
कर्मागमननिरोधस्तत्काले द्रव्यसंवरो गीतः ॥ १२ ॥

अर्थ—आत्मा और शरीरके भेदज्ञान और निर्विकल्पक समाधिसे जो उस कालमें आगामी कर्मोंका निरोध—रुकना होता है वह द्रव्यसंवर है†।

---

† 'कर्मणामास्रवाभावो रागादीनामभावतः ।
तारतम्यतया सोऽपि प्रोच्यते द्रव्यसंवरः ॥'—जम्बूस्वा० १३-१२४

भावार्थ—व्रत समिति आदिके द्वारा आते हुये द्रव्य-कर्मोंका रुक जाना द्रव्यसंवर है।

द्रव्यनिर्जराका लक्षण—

शुद्धादुपयोगादिह निश्चयतपसश्च संयमाद्वा।
गलति पुरा बद्धं किल कर्मैषा द्रव्यनिर्जरा गदिता ॥१३॥

अर्थ—शुद्धोपयोगसे और निश्चयतपों—अन्तरङ्गतपोंसे अथवा संयमादिकोंसे जो पूर्वबद्ध—पहिले बंधे हुये कर्म झड़ते हैं वह द्रव्यनिर्जरा कही गई है।

भावार्थ—समय पाकर या तपस्या आदिके द्वारा जो कर्मपुद्गल नाशको प्राप्त होते हैं वह द्रव्यनिर्जरा है। यह द्रव्यनिर्जरा भाव-निर्जराकी तरह सविपाक और अविपाक दोनों तरहकी होती है। कर्मकी स्थिति पूरी होनेपर फल देकर जो कर्म-पुद्गल झड़ते हैं वह सविपाक द्रव्यनिर्जरा है और स्थिति पूरी किये बिना ही तपस्या आदि प्रयत्नोंके द्वारा जो कर्म-पुद्गल प्रदेशोदयमें आकर नाश होते हैं वह अविपाक द्रव्यनिर्जरा है।

मोक्षके दो भेद—

मोक्षो लक्षित एव हि तथापि संलक्ष्यते यथाशक्ति।
भाव-द्रव्यविभेदाद्द्विविधः स स्यात्समाख्यातः॥ १४ ॥

अर्थ—'मोक्षतत्त्व'का निरूपण यद्यपि पहिले कर आये हैं तथापि यहाँ पुनः उसका लक्षण क्रम-प्राप्त होनेके कारण किया जाता है। वह मोक्ष भाव और द्रव्यके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है*।

* 'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भाव-मोक्खो दव्व-विमोक्खो य कम्म-पुधभावो ॥'—द्रव्यसं० ३७

भावार्थ—'मोक्ष' के दो भेद हैं—(१) भावमोक्ष और (२) द्रव्यमोक्ष। इनका स्वरूप स्वयं ग्रन्थकार आगे कहते हैं।

भावमोक्षका स्वरूप—

सर्वोत्कृष्टविशुद्धिर्बोधमती कृत्स्नकर्मलयहेतुः।

ज्ञेयः स भाव-मोक्षः कर्मक्षयजा विशुद्धिरथ च स्यात्॥१५॥

अर्थ—सब कर्मोंके क्षय(नाश)को करनेवाली और स्वयं कर्मविनाशसे होनेवाली सम्यग्ज्ञानविशिष्ट—अनन्तज्ञानस्वरूप आत्माकी परमोत्कृष्ट विशुद्धि—पूर्ण निर्मलताको भावमोक्ष जानना चाहिये।

भावार्थ—भावमोक्ष दो प्रकारका है—(१) अपर-भाव-मोक्ष और (२) पर-भाव-मोक्ष।

१. अपर-भाव-मोक्ष—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके क्षयसे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली और अयोगकेवली-जिनके आत्मामें जो विशुद्धि—निर्मलता होती है उसे अपरभावमोक्ष कहते हैं। और यह ही विशुद्धि सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयमें कारण होती है।

२. पर-भाव-मोक्ष—अघातिया—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार—कर्मोंके भी नाश हो जानेपर आत्मामें जो सर्वोच्च विशुद्धि— पूर्ण निर्मलता—सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है उसे पर-भाव-मोक्ष कहते हैं। यद्यपि अरहंत और सिद्ध भगवानके अनन्तज्ञानादि समान होनेसे आत्म-निर्मलता भी एक जैसी है तथापि चार कर्मों और आठकर्मोंके नाशकी अपेक्षासे उस निर्मलतामें औपाधिक भेद है।

द्रव्यमोक्षका स्वरूप—

परमसमाधि-बलादिह बोधावरणादि-सकलकर्माणि ।
चिद्देशेभ्यो भिन्नीभवन्ति स द्रव्यमोक्ष इह गीतः ॥१६॥

अर्थ—उत्कृष्ट समाधि—शुक्लध्यानके बलसे ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंका आत्मासे सर्वथा पृथक् होना—अलग होजाना द्रव्यमोक्ष कहा गया है।

भावार्थ—इस द्रव्यमोक्षके भी दो भेद हैं—(१) अपर-द्रव्य-मोक्ष और (२) पर-द्रव्य-मोक्ष। ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मोंका आत्मासे छूटना अपर-द्रव्य-मोक्ष है और घातिया तथा अघातिया आठों ही कर्मोंका आत्मासे अलग होना पर-द्रव्य-मोक्ष है। यह दोनों ही तरहका मोक्ष उत्कृष्टसमाधि—शुक्लध्यानसे प्राप्त होता है। मोक्ष अजर है। अमर है। किसी प्रकारकी वहाँ बाधा नहीं है। सब दुखोंसे रहित है†। चिदानन्दस्वरूप है। परमसुख और शान्तिमय है। पूर्ण है। मुमुक्षु भव्यात्माओं द्वारा सदा आराधन और प्राप्त करने योग्य है।

निर्जरा और मोक्षमें भेद—

देशेनैकेन गलेत्कर्मविशुद्धिश्च देशतः सेह ।
स्यान्निर्जरा पदार्थो मोक्षस्तौ सर्वतो द्वयोर्भिदिति*॥१७॥

अर्थ—एक देश कर्मोंका झड़ना और एक देश विशुद्धि—निर्मलताका होना निर्जरा है तथा सर्वदेश कर्मोंका नाश होना और सम्पूर्ण विशुद्धि होना मोक्ष है। यही इन दोनोंमें भेद है।

---

† 'जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥'—रत्नकरण्ड श्रा० १३१

* 'द्वयोर्भिरिति' मुद्रितप्रतौ पाठः।

पुण्यजीव और पापजीवोंका कथन—

शुभभावैर्युक्ता ये जीवाः पुण्यं भवन्त्यभेदात्ते ।
संक्लेशैः पापं तद्द्रव्यं द्वितीयं च पौद्गलिकम् ॥१८॥

अर्थ—जो जीव शुभ परिणामवाले हैं वे अभेदविवक्षासे पुण्य हैं—पुण्य-जीव हैं और जो संक्लेशसे युक्त हैं वे पाप हैं—पाप-जीव हैं; किन्तु पुण्य और पाप ये दोनों पुद्गलकर्म हैं।

भावार्थ—जिन कर्मोंके उदयसे जीवोंको सुखदायी इष्ट सामग्री प्राप्त हो उन कर्मोंको 'पुण्य' कर्म कहते हैं और जिन कर्मोंके उदयसे दुःखदायी अनिष्ट सामग्री प्राप्त हो उन कर्मोंको 'पाप' कर्म कहते हैं। इन दोनों (पुण्य और पाप) का जीवके साथ सम्बन्ध होनेसे जीव भी अभेददृष्टिसे दो तरहके कहे गये हैं— (१) पुण्यजीव और (२) पापजीव। जिन जीवोंके 'पुण्य-कर्मों' का सम्बन्ध है वे पुण्यजीव हैं और जिनके 'पाप-कर्मों' का सम्बन्ध है वे पापजीव हैं।

शास्त्रसमाप्ति और शास्त्राध्ययनका फल—

ये जीवाः परमात्मबोधपटवः शास्त्रं त्विदं निर्मलं
नाम्नाऽध्यात्म-पयोज-भानु कथितं द्रव्यादिलिङ्गं स्फुटम् ।
जानन्ति प्रमितैश्च शब्दबलतो यो वाऽर्थतः श्रद्धया
ते सद्दृष्टियुता भवन्ति नियमात्सम्वान्तमोहाः स्वतः ॥१९॥

अर्थ—जो भव्यजीव परमात्माके बोध करनेमें निपुण होते हुए इस 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' नामक निर्मल अध्यात्म-ग्रन्थका, जिसमें द्रव्यादि पदार्थोंका विशद वर्णन किया गया है, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे तथा शब्द और अर्थके साथ श्रद्धापूर्वक जानते हैं—

विचार करते हैं—पढ़ते पढ़ाते और सुनते सुनाते हैं—वे नियमसे मोह—तत्त्वज्ञानविषयकभ्रान्तिसे रहित होकर सम्यग्दर्शनका लाभ करते हैं—सम्यग्दृष्टि होते हैं।

भावार्थ—इस पद्यके द्वारा शास्त्रज्ञानका फल—सम्यक्त्वका लाभ मुख्यरूपसे बताया ही गया है। साथमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका लाभ भी सूचित किया है; क्योंकि एक तो सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी यथोचितरूपमें होते ही हैं। दूसरे, शास्त्रज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति और विषयोंमें संवेग तथा निर्वेदभाव पैदा होता है। अतः जो भव्यजीव इस 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' को पढ़ते-पढ़ाते और सुनते-सुनाते हैं वे नियमसे रत्नत्रयका लाभ करते हैं और अन्तमें केवलज्ञानको प्राप्त करके मोक्षको पाते हैं।

ग्रन्थकारका अन्तिम निवेदन—

अर्थाश्चाद्यवसानवर्जतनवः सिद्धाः स्वयं मानत—
स्तल्लक्ष्मप्रतिपादकाश्च शब्दा निष्पन्नरूपाः किल।
भो ? विज्ञाः ? परमार्थतः कृतिरियं शब्दार्थयोश्च स्वतो
नव्यं काव्यमिदं कृतं न विदुषा तद्राजमल्लेन हि ॥ २० ॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे सप्त-तत्त्व-नव-पदार्थ-प्रतिपादकश्चतुर्थः परिच्छेदः।

इति अध्यात्मकमलमार्तण्डः समाप्तः।

अर्थ—पदार्थ अनादि और अनन्त हैं और वे स्वयं प्रमाणसे सिद्ध हैं। उनके स्वरूप-प्रतिपादक शब्द भी स्वयं निष्पन्न हैं—सिद्ध हैं। हे बुधवरो! वस्तुतः यह ग्रन्थ शब्द और अर्थकी ही

कृति—रचना है, मुझ पण्डित राजमल्लने स्वयं यह कोई नया काव्य नहीं रचा—नूतन रचना नहीं की।

भावार्थ—श्रीमत्पण्डित राजमल्लजी ग्रन्थ पूर्ण करते हुए कहते हैं कि यह 'अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड' नामक शास्त्र शब्द और अर्थ की रचना है और यह शब्द अर्थ अनादि तथा अनन्त हैं—स्वयं सिद्ध हैं—अर्थात् पहिले से ही मौजूद थे। अतः मैंने कोई नई रचना नहीं की—मैं उनका संयोजकमात्र हूँ*। इस प्रकार अपनी लघुता प्रकट करते हैं और इतना गंभीर महान् ग्रन्थ रचकर भी अपनी निरभिमानतावृत्ति को सूचित करते हैं। इतिशम्।

इस प्रकार श्री 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' नामक शास्त्रमें सप्त-तत्त्व और नव-पदार्थोंका वर्णन करनेवाला चौथा परिच्छेद पूर्ण हुआ।

इस तरह हिन्दीभाषानुवादसहित अध्यात्मकमलमार्तण्ड सम्पूर्ण हुआ।

---

*इसी भावको श्रीमदमृतचन्द्राचार्यने, जो प्रस्तुत ग्रन्थ-रचयिताके पूर्ववर्ती हैं, अपने तत्त्वार्थसारकी समाप्तिके अन्तमें निम्न प्रकार प्रकट किया है:—

वर्णाः पदानां कर्त्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम्॥

परिशिष्ट

[पृष्ठ ३४, पंक्ति १० के आगेका क्रम-प्राप्त निम्न पद्य और उसका अनुवाद छपनेसे रह गया है। अतः उसे यहाँ दिया जाता है।]

व्ययका स्वरूप—

सति कारणे यथास्वं द्रव्यावस्थान्तरे हि सति नियमात्।
पूर्वावस्थाविगमो विगमश्चेतीह लक्षितो न सतः॥ १८॥

अर्थ—यथायोग्य (बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग) कारणोंके होने और द्रव्यकी उत्तर अवस्थाके उत्पाद होनेपर नियमसे पूर्व अवस्थाका नाश होना विगम—अर्थात् व्यय कहा गया है। सत् (द्रव्य) का व्यय नहीं होता।

भावार्थ—जिस प्रकार तुरी, वेमादि पटकारणोंके होनेपर और पटके उत्पन्न होनेपर जो तन्तुरूप अवस्थाका विनाश होता है वह उसका विगम कहलाता है उसी प्रकार उपादान और निमित्त कारणोंके मिलनेपर द्रव्यकी उत्तर अवस्थाके उत्पादपूर्वक पूर्व अवस्थाका त्याग होना विगम है'

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	६	क्षायायशमिक	क्षायोपशमिक
२२	१७	बन्धान्तर्गतपुण्यं	बन्धान्तर्गतं पुण्यं
२७	४	विशष्ट	विशिष्ट
२८	११	ह्यानित्या-	ह्यनित्या-
३३	५	ध्रौयात्मक	ध्रौव्यात्मक
३७	५	अभिनाभाव	अविनाभाव
४२	१२	तादाम्य	तादात्म्य
६१	३	सूक्त	सूक्ष्म

अध्यात्मकमलमार्तण्डकी पद्यानुक्रमणी